छान्दोग्योपनिषद् सार

जन जन की भाषा में

राजेन्द्र कुमार गुप्ता

निवेदन

उपनिषद् वैदिक साहित्य का निचोड़, भारतीय आध्यात्मिक चिंतन के मूलाधार और भारतीय आध्यात्मिक दर्शन के स्रोत हैं । उपनिषद् शब्द का साधारण अर्थ है-'समीप उपवेशन' या समीप बैठना, अर्थात ब्रह्मविद्या की प्राप्ति के लिए शिष्य का गुरु के पास बैठना । इनमें वेदों का सारतत्त्व अर्थात ब्रह्मविद्या का निचोड़ समाहित है । यों तो उपनिषदों की संख्या बहुत अधिक है (लगभग 108) लेकिन इनमें ग्यारह उपनिषद् मुख्य हैं । इनमें से नौ-यथा ईश, केन, कठ, प्रश्न, मुण्डक, माण्डूक्य, ऐतरेय, तैत्तिरीय और श्वेताश्वतर उपनिषद् का सारतत्त्व इससे पूर्व प्रस्तुत किया जा चुका है । इस पुस्तक में छान्दोग्योपनिषद् के सारतत्त्व को सरल जन जन की भाषा में प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है ।

छान्दोग्योपनिषद् में तत्त्वज्ञान और उसके लिए उपयोगी कर्म और उपासनाओं का विशद और विस्तृत वर्णन किया गया है । जीव के विभिन्न विकारों को मिटाने के विषय में यह उपनिषद् कहता है कि निष्काम कर्म द्वारा अन्तःकरण के मलिन संस्कारजन्य दोषों की निवृत्ति, उपासना द्वारा चित्त की चंचलतारूपी दोष की निवृत्ति और ज्ञान द्वारा स्वरूपविस्मृति अर्थात अज्ञानरुपी आवरण की निवृत्ति होती है । इसे ऐसे भी कहा जा सकता है कि स्थूल शरीर निष्काम कर्म द्वारा, मन उपासना द्वारा और कारण शरीर ज्ञान द्वारा साधा जा सकता है और यह उपनिषद् इसका मार्ग प्रशस्त करने का उपाय बताता है ।

इस उपनिषद् में सर्वप्रथम ॐ अक्षर की उपासना, उसके बाद स्तोम अक्षरों की उपासना कही गई है ओर उनका महान् फल भी कहा गया है, और तदुपरान्त अखण्डसाम की उपासना का वर्णन है । यह उपासना अतिश्रेष्ठ है, इसके करने से उपासक का बहुत प्रकार से कल्याण होता है । इस उपनिषद् के दो खणड हैं, पूर्वार्ध में सगुण ब्रह्मकी उपासना ओर उसका फल ब्रह्मलोक की प्राप्ति कहा गया है, और दूसरे उतरार्ध में प्राण की उपासना, पञ्चाग्निविद्या, वैश्वानरविद्या, भूमाविद्या, और दृहराविद्या की ज्येप्ठता, श्रेष्ठता का निरूपण किया गया है । इसमें उपासना और ज्ञान दोनों का ही अति उत्तम रूप से वर्णन किया गया है और उन्हें सुगमता से समझाने के लिए आख्यायिकाएँ और संवाद यथा पोत्रायण और रैक्व, सत्यकाम जाबाल, उद्दालक-श्वेतकेतु और नारद एवं सनत्कुमार का संवाद, दिए गए हैं । इन पर मनन द्वारा यह जीवात्मा ही ब्रह्म है, ऐसा प्रत्यक्ष अनुभव होने लगता है । इस विषय में यह उपनिषद् जो दुःख का नाशकं और आनन्द का दायक है, कहता है:

निश्चय ही यह सारा जगत ब्रह्म है,
उसी से ही यह जगत उत्पन्न होनेवाला,
उसी में लीन होता, उसी में चेष्टा करता,
ऐसा निश्चय कर पुरुष करे उपासना ।

समस्त वेदों का सार, प्रख्यात मन्त्र 'तत्त्वमसि' अर्थात 'सोई तू है' (Thou Art That) इसी उपनिषद् का महावाक्य है । ऋषि उद्दालक अपने पुत्र श्वेतकेतु से कहते हैं:

जो अतिसूक्ष्म सबका अधिष्ठान कहा गया,
हे सौम्य ! सोई है यह तेरा आत्मा,
यही आत्मा सब जगत का सद्रूप है,
सोई तू है, हे श्वेतकेतु ! परब्रह्म परमात्मा ।

इस कार्य का मुख्य आधार गीताप्रेस गोरखपुर द्वारा प्रकाशित छान्दोग्योपनिषद् और माननीय श्री रायवहादुर ज़ालिमसिंहजी की छान्दोग्योपनिषद् टीका हैं । मैं इनका हृदय से अभिनन्दन और आभार व्यक्त करता हूँ कि उन्होंने पाठकों को इसे उपलब्ध कराने में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई है ।

इस प्रस्तुति का मुख्य उद्देश्य सामान्य जनों को सीधी-सरल भाषा में छान्दोग्योपनिषद् में निहित ज्ञान से परिचित कराना मात्र है । लेकिन उपनिषदों में निहित गूढज्ञान, इस सरल पदरूप प्रस्तुति में कहीं गौण न हो जाय इसलिए फुटनोट्स द्वारा जगह-जगह उसे यथोचित रूप से प्रकाशित करने का प्रयास किया गया है । पाठकों से निवेदन है कि वे इन पदों को फुटनोट्स के साथ पढ़कर उपनिषद् में निहित भाव को ग्रहण करने का कष्ट करें ।

इस कार्य में जो कुछ सफलता मिल पाई है, वह गुरुजनों का कृपाप्रसाद उन्हीं के श्रीचरणों में सादर समर्पित है । पाठक अपने सुझाव, आलोचना आदि rkgupta51@yahoo.com पर व मोबाइल न. 9899666200 पर भेज सकते हैं । वे website www.sufisaints.net देखने के लिए भी आमंत्रित हैं ।

13.08.2024

विनीत

राजेन्द्र कुमार गुप्ता

विषय-सूची

1. प्रथम अध्याय 4

प्रथम खण्ड 4
द्वितीय खण्ड 5
तृतीय खण्ड 6
चतुर्थ खण्ड 7
पञ्चम खण्ड 8
षष्ठ खण्ड 8
सप्तम खण्ड 9
अष्टम खण्ड 9
नवम खण्ड 10
दशम खण्ड 10
एकादश खण्ड 11
द्वादश खण्ड 12
त्रयोदश खण्ड 12

2. द्वितीय अध्याय 14

प्रथम खण्ड 14
द्वितीय खण्ड 14
तृतीय खण्ड 14
चतुर्थ खण्ड 15
पञ्चम खण्ड 15
षष्ठ खण्ड 15
सप्तम खण्ड 15
अष्टम खण्ड 15
नवम खण्ड 16
दशम खण्ड 17
एकादश खण्ड 17
द्वादश खण्ड 18
त्रयोदश खण्ड 18
चतुर्दश खण्ड 18
पञ्चदश खण्ड 18

षोडश खण्ड 19
सप्तदश खण्ड 19
अष्टादश खण्ड 19
एकोनविंश खण्ड 19
विंश खण्ड 19
एकविंश खण्ड 20
द्वाविंश खण्ड 20
त्रयोविंश खण्ड 21
चतुर्विंश खण्ड 22

3. तृतीय अध्याय 24
प्रथम खण्ड 24
द्वितीय खण्ड 24
तृतीय खण्ड 25
चतुर्थ खण्ड 25
पञ्चम खण्ड 25
षष्ठ खण्ड 25
सप्तम खण्ड 25
अष्टम खण्ड 25
नवम खण्ड 25
दशम खण्ड 26
एकादश खण्ड 26
द्वादश खण्ड 27
त्रयोदश खण्ड 28
चतुर्दश खण्ड 28
पञ्चदश खण्ड 29
षोडश खण्ड 30
सप्तदश खण्ड 31
अष्टादश खण्ड 32
एकोनविंश खण्ड 32

4. चतुर्थ अध्याय 34
प्रथम खण्ड 34

द्वितीय खण्ड 35
तृतीय खण्ड 35
चतुर्थ खण्ड 37
पञ्चम खण्ड 38
षष्ठ खण्ड 38
सप्तम खण्ड 39
अष्टम खण्ड 39
नवम खण्ड 40
दशम खण्ड 40
एकादश खण्ड 41
द्वादश खण्ड 41
त्रयोदश खण्ड 42
चतुर्दश खण्ड 42
पञ्चदश खण्ड 42
षोडश खण्ड 43
सप्तदश खण्ड 44

5. पञ्चम अध्याय 45
प्रथम खण्ड 45
द्वितीय खण्ड 46
तृतीय खण्ड 47
चतुर्थ खण्ड 48
पञ्चम खण्ड 49
षष्ठ खण्ड 49
सप्तम खण्ड 50
अष्टम खण्ड 50
नवम खण्ड 50
दशम खण्ड 50
एकादश खण्ड 52
द्वादश खण्ड 53
त्रयोदश खण्ड 53
चतुर्दश खण्ड 54
पञ्चदश खण्ड 54

षोडश खण्ड 54
सप्तदश खण्ड 55
अष्टादश खण्ड 55
एकोनविंश खण्ड 56
विंश खण्ड 56
एकविंश खण्ड 56
द्वाविंश खण्ड 57
त्रयोविंश खण्ड 57
चतुर्विंश खण्ड 57

6. षष्ठ अध्याय 58
प्रथम खण्ड 58
द्वितीय खण्ड 59
तृतीय खण्ड 59
चतुर्थ खण्ड 60
पञ्चम खण्ड 60
षष्ठ खण्ड 61
सप्तम खण्ड 61
अष्टम खण्ड 62
नवम खण्ड 63
दशम खण्ड 64
एकादश खण्ड 64
द्वादश खण्ड 65
त्रयोदश खण्ड 65
चतुर्दश खण्ड 65
पञ्चदश खण्ड 66
षोडश खण्ड 66

7. सप्तम अध्याय 68
प्रथम खण्ड 68
द्वितीय खण्ड 69
तृतीय खण्ड 69
चतुर्थ खण्ड 69

पञ्चम खण्ड 70
षष्ठ खण्ड 70
सप्तम खण्ड 71
अष्टम खण्ड 71
नवम खण्ड 71
दशम खण्ड 71
एकादश खण्ड 71
द्वादश खण्ड 71
त्रयोदश खण्ड 72
चतुर्दश खण्ड 72
पञ्चदश खण्ड 72
षोडश खण्ड 73
सप्तदश खण्ड 73
अष्टादश खण्ड 74
एकोनविंश खण्ड 74
विंश खण्ड 74
एकविंश खण्ड 74
द्वाविंश खण्ड 74
त्रयोविंश खण्ड 74
चतुर्विंश खण्ड 74
पञ्चविंश खण्ड 74
षड्विंश खण्ड 74

8. अष्टम अध्याय 77
प्रथम खण्ड 77
द्वितीय खण्ड 77
तृतीय खण्ड 78
चतुर्थ खण्ड 78
पञ्चम खण्ड 79
षष्ठ खण्ड 79
सप्तम खण्ड 80
अष्टम खण्ड 81
नवम खण्ड 81

दशम खण्ड 82
एकादश खण्ड 82
द्वादश खण्ड 83
त्रयोदश खण्ड 85
चतुर्दश खण्ड 85
पञ्चदश खण्ड 86

छान्दोग्योपनिषद्

जन जन की भाषा में

“ॐ छान्दोग्योपनिषद्”

“शान्तिपाठ”

हे परब्रह्म परमात्मन् ! परिपुष्ट हों,
मेरे सभी अंग, इन्द्रियाँ, प्राण आदि,
अस्वीकार न करूँ सर्वरूप ब्रह्म को,
और परब्रह्म त्यागें न मुझको कभी ।

मेरा और परब्रह्म का परस्पर सम्बन्ध,
नित्य बना रहे और होता रहे प्रगाढ़,
उपनिषदों में प्रतिपादित सारे धर्मसमूह,
परमात्मा में लगे, मुझमें सदा करें वास ।

ॐ शान्ति: शान्ति: शान्ति: ।

अथ प्रथमोध्याय:

प्रथम खण्ड

'ॐ'-यह पवित्र अक्षर उद्गीथ[1] है,
करनी चाहिए उपासना जिसकी,
इसका उच्चारण कर उद्गाता,
उद्घोषणा करता शुभकर्म करने की ।

चराचर प्राणियों का आश्रय है पृथ्वी,
पृथ्वी का जल, ओषधियाँ रस[2] जल का,
उनका रस क्रमश: पुरुष, वाक्, ऋक्, साम,[3]
और यह उद्गीथ रस है साम[4] का ।

जो यह आठवाँ[5] ॐकार है वही,
सभी सार वस्तुओं का है यह सार,
श्रेष्ठ से भी श्रेष्ठ, सर्वश्रेष्ठ है ये,
परमात्मा का प्रतीक है यह ॐकार ।

अब यह विचार किया जाता है कि,
कौन ऋक्, कौन साम, कौन उद्गीथ,
तो वाक् ही ऋक है, प्राण ही साम है,
और 'ॐ' जो अक्षर है, वो है उद्गीथ ।

वाणी आवश्यक है ऋचा के लिए,
सामगान सम्भव नहीं प्राण बिना,
वाणी, ऋचा और साम, प्राण के आश्रय,
प्राण सम्भव नहीं इन तीनों के बिना ।

ऋक्, सामरूप वाक् और प्राण,
ये तीनों ही संयुक्त हैं आपस में,
जब ॐ अक्षर में यह संयोग होता,
पूरी कर देता ये सम्पूर्ण कामनाएँ ।

जो विद्वान उपासना करता ऐसे,
आप्तिगुणवान उद्गीथरूप अक्षर की,
उसकी इस उपासना के फलस्वरूप,
सम्पूर्ण कामनाओं की पूर्ति होती ।

---

[1] उद्गीथ-अर्थात उच्च स्वर में स्तुति गान; ॐकार उच्चारण; यह शब्द उत् (उत्तम, उच्च, सबसे बड़ा), गी (अर्थात गायन) और थ (अर्थात स्थान) से बना है । उपनिषद के अनुसार प्राण ही उत् है क्योंकि प्राण के द्वारा ही मनुष्य ऊपर उठता है, गी से तात्पर्य गायन है जो वाणी अर्थात देवी सरस्वती के लिए प्रयुक्त हुआ है ।

[2] रस-अर्थात सार; सारभूत । जल का सार उससे उत्पन्न होनेवाले अन्नादि ।

[3] साम-'सा' अर्थात ऋक और 'अम' अर्थात गान; साम अर्थात ऋग्वेद की ऋचाओं का सस्वर गायन । आरोह एवं अवरोह से युक्त मन्त्रों का गान साम कहलाता है । साम से सम्बद्ध वेद सामवेद कहलाता है। वस्तुत: सामवेद में ऋग्वेद की उन ऋचाओं का संकलन है जो गान के योग्य समझी गयी थीं। ऋचाओं का गान ही सामवेद का मुख्य उद्देश्य माना जाता है। सामवेद मुख्यत: उपासना से सम्बद्ध है, सोमयाग में आवाहन के योग्य देवताओं की स्तुतियाँ इसमें प्राप्त होती है। यज्ञ-सम्पादन काल में उद्गाता इन मंत्रों का गान करता था। संपूर्ण सामवेद में सोमरस, सोमदेवता, सोमयाग, सोमपान का महत्व अंकित है इसलिए इसे सोमप्रधान वेद भी कहा जाता है।

[4] पृथ्वी का रस जल है क्योंकि पृथ्वी जल में ही ओत-प्रोत है, ओषधियाँ जल का परिणाम हैं जिनका रस पुरुष है क्योंकि नरदेह अन्न (ओषधि) का ही परिणाम है, पुरुष का रस वाक् है क्योंकि वाक् ही सबसे अधिक सारभूत वस्तु है । वाक् का सारभूत ऋक है, उसका साम और साम का रस उद्गीथ (ॐकार) है । वाक् से तात्पर्य है वाणी, ऋक् (ऋचा) से स्तुतिपरक मन्त्र, और साम से तात्पर्य है ऋचाओं का गान ।

[5] आठवाँ-पृथ्वी, जल, ओषधियाँ, पुरुष, वाक्, ऋक् और साम ये सात और आठवाँ 'ॐ' ।

यह ओंकार ही अनुमतिसूचक अक्षर है,
जब कोई अनुमति देता, ओंकार कहता,
उपासना करता इसकी ऐसे जाननेवाला,
इसके द्वारा कामनाएँ समृद्ध करता ।

तीन वेदों में कहा गया सोमयज्ञादि कर्म,
इस ओंकार उच्चारण के साथ शुरू होता,
इसकी पूजा के लिए ही हैं सब वैदिक कर्म,
इसकी महिमा और रस से सब कार्य होता ।

जो इसे ऐसे जानता या नहीं जानता,
दोनों ही इसके द्वारा करते हैं कर्म,
पर दोनों का भिन्न-भिन्न फल होता,
इसे जाननेवाले का होता प्रबलतर कर्म ।

द्वितीय खण्ड

(अध्यात्मविषयक उद्गीथ की उपासना)

प्रजापति के पुत्र[6] देवता और असुर,
पूर्वकाल में लड़ने लगे आपस में,
देवताओं ने किया उद्गीथ का अनुष्ठान,
ताकि उससे असुरों का पराभव कर सकें ।

नासिका में रहनेवाले प्राण के रूप में,
उद्गीथ की उपासना करी देवो ने,
पर असुरों ने किया उसे पाप से विद्ध,
सो दुर्गन्ध और सुगन्ध लोक लगा सूँघने ।

फिर वाणी के रूप में उपासना की उन्होंने,
असुरों ने किया उसे भी पाप से संयुक्त,
सत्य और असत्य दोनों बोलने लगा लोक,
क्योकि वाणी हो गया था पाप से युक्त ।

फिर चक्षु, श्रोत्र और मन के रूप में,
उपासना की उद्गीथ की क्रमश: उन्होंने,
पर प्राण और वाणी की तरह ही,
पाप से संयुक्त किया उन्हें असुरों ने ।

फिर यह जो प्रसिद्ध मुख्य प्राण है,
उस के रूप में उद्गीथ की करी उपासना,
वहाँ पहुँच असुरगण विध्वस्त हो गए,
जैसे पाषाण से हुआ मिट्टी का सामना ।

जो ऐसे जाननेवाले पुरुष के प्रति,
पापाचरण की करता है कामना,
मिट्टी के ढेले सा विनष्ट हो जाता,
पाषाणरूपी प्राणोपासक का कर सामना ।

न सुगन्ध, न दुर्गन्ध जानता लोक,
पाप से अछूते मुख्य प्राण[7] के द्वारा,
यह जो कुछ खाता या पीता है,
अन्य प्राण पोषण पाते इसके द्वारा ।

अन्त समय में अन्य प्राणों द्वारा,
इस मुख्य प्राण को न पाए जाने से,
उत्क्रमण कर जाता वह शेष प्राणसमूह,
और तब प्राणी अपना मुख फाड़ देते ।

---

[6] देवता और असुर दोनों ही प्रजापति के पुत्र हैं; यहाँ देवता से तात्पर्य इन्द्रियों की सात्विक वृतियाँ है और तमोमयी इन्द्रियवृतियाँ असुर कहलाती हैं । इस सन्दर्भ से प्रजापति से तात्पर्य मनुष से है ।

[7] प्राण के पाँच प्रकार यथा प्राण, अपान, समान, व्यान और उदान ।

अंगिरा ऋषि ने उपासना की थी,
उद्‌गीथ की इसी प्राण के ही रूप में,
अतः इस प्राण को ही आंगिरस मानते,
क्योंकि सम्पूर्ण अंगों का रस है इसी में ।

इसी कारण बृहस्पती ऋषि ने भी,
उपासना करी इसी की प्राण रूप में,
अतः इस प्राण को ही बृहस्पती मानते,
यह वाक् ही बृहती,[8] यह पति रूप में ।

आयास्य और दल्भ के पुत्र बक ने,
प्राण के रूप में उद्‌गीथ को जाना,
कामनाओं का आगान[9] करनेवाला होता,
जो उद्‌गीथ की यों करता उपासना ।

तृतीय खण्ड

(देवताविषयक उद्‌गीथ की उपासना)

उद्‌गीथ की उपासना करनी चाहिए,
इस आदित्य के रूप में जो तपता रहता,
उदित हो प्रजाओं के लिए करता उदगान,
अन्धकार और भय से मुक्त करता ।

परस्पर समान हैं प्राण और सूर्य,
प्राण उष्ण और उष्ण है सूर्य भी,
यह प्राण स्वर है ऐसा कहा जाता है,
'स्वर' एवं 'प्रत्यास्वर'[10] कहाता वो भी ।

व्यानदृष्टि से उद्‌गीथ का विचार,
प्राणन[11] प्राण है और अपश्वास अपान,
व्यान सन्धि प्राण और अपान की,
इन दोनों के बीच की वृत्ति है व्यान ।

यह जो प्राण-अपान के बीच की वृत्ति,
इस व्यान को ही वाक् जाना जाता,
प्राण और अपान दोनों क्रिया न करते
उस समय जब मनुष्य वाणी से बोलता ।

यह जो वाक् है वही ऋक है,
उसी से पुरुष ऋक का उच्चारण करता,
ऋक ही साम, सामगान ही उद्‌गीथ,
इसी से प्राण-अपान बिन उद्‌गान करता ।

इसके सिवा और भी वीरता के कार्य,
जैसे अग्नि-मन्थन, दौड़ना, धनुष खींचना,
इनमें भी प्राण-अपान क्रिया स्थगित रहती,
सो व्यानदृष्टि से हो उद्‌गीथ उपासना[12] ।

इसके बाद उपासना करनी चाहिए,
उद्‌गीथ में प्रयुक्त किए अक्षरों की,
प्राण ही 'उत्' है, वाणी ही 'गी'[13] है,
'थ' अन्न, जिसमें स्थिति इन सबकी ।

---

8 बृहती-अर्थात वाक् (वाणी) भाषण, शक्तिशाली, स्वर्ग और पृथ्वी ।

9 आगान-अर्थात गाकर कहे जाने वाली बात; साधन; सब मनोरथों को पूर्ण करने वाला । इस उपासना से उपासक उपास्यरूप हो जाता है, क्योंकि 'ॐकार' अविनाशी है इसलिये उपासक भी अविनाशी ब्रह्मरूप हो जाता है ।

10 स्वरण अर्थात गमन करनेवाला; प्राण गमन करने के बाद लौटते नहीं लेकिन सूर्य अस्त होकर फिर उदित होता है अतः इसे प्रत्यास्वर भी कहा जाता है ।

11 प्राणन-अर्थात श्वास को बाहर निकालना और अपश्वास अर्थात श्वास को भीतर लेना ।

12 व्यान अर्थात प्राण-अपान के बीच का जो अंतराल है वही वीर-कर्म सिद्धि का समय है ।

13 क्योंकि वाणी को गिरा कहते हैं ।

द्यौ, आदित्य और सामवेद हैं 'उत्',
अन्तरिक्ष, वायु और यजुर्वेद हैं 'गी'[14],
पृथ्वी, अग्नि और ऋग्वेद 'थ'[15] हैं,
इस प्रकार उपासना करे उद्गीथ की ।

वाणी अर्थात वेदपाठ का मोक्षरूपी फल,
ऐसे उपासक को देह त्यागने पर मिलता,
जीते-जी घर में बाहुल्यता होती अन्न की,
उन प्राप्त पदार्थों को भलीभाँति भोगता ।

फल की सिद्धि प्राप्त करने के लिए,
अपने ध्येय की ऐसे उपासना करे,
इच्छित साम-मन्त्र के ऋषि, छन्द, देवता,
पहले उन सबका **भलिभाँति** चिन्तन करे ।

उद्गीथ के लिए जिस छन्द को चुना,
जाँच ले उसके लिए उपयुक्त स्वर को,
और **जिस दिशा की स्तुति करनेबाला हो,**
नमन कर ले उसके अभिमानी देवता को ।

फिर अपने आत्म-स्वरूप का चिन्तन कर,
बिना प्रमाद स्तुति पर करे ध्यान केन्द्रित,
तब जिस कामना के लिए की स्तुति उसने,
उसकी तत्काल पूर्ति उसे होगी लक्षित ।

चतुर्थ खण्ड

इस 'ॐ' अक्षर की उपासना,
करनी चाहिए उद्गीथ रूप से,
क्योंकि यह 'ॐ' ही ब्रह्मरूप है,
उद्गान शुरू होता इसी 'ॐ' से ।

देवताओं ने[16] मृत्यु से भय मानते हुए,
प्रवेश किया त्रयीविद्या अर्थात वेद में,
छन्दों से आच्छादित कर लिया अपने को,
यही आच्छादित करना छन्दपन छन्दों में ।

वैदिक कर्मों में लगे देवताओं को,
मछेरे की तरह[17] देख लिया मृत्यु ने,
यह बात जान, कर्मों से निवृत्त हो,
स्वर में प्रवेश कर लिया उन्होंने ।

ऋक, साम और यजुर्वेद के मन्त्रों को,
उपासक जब 'ॐ' कह उच्चारण करता,
उस अमृत और अभयरूप में प्रविष्ट हो,
वो अभय और अमरत्व को प्राप्त करता ।

---

[14] गी-अर्थात गिरण-निगलना; लोकों को निगलने से अन्तरिक्ष, अग्नि आदि को निगलने से वायु और यजुर्वेदियों के दिए हुए हवि को देवताओं द्वारा निगलने से यजुर्वेद गी है ।

[15] थ-अर्थात स्थान; प्राणियों का आश्रय स्थान होने से पृथ्वी, यज्ञ सम्बन्धी कार्यों के लिए अग्नि और ऋग्वेद में सामवेद अधिष्ठित होने से ऋग्वेद थ है ।

[16] देवता अथांत् इन्द्रियों की सात्विक वृतियों ने इन्द्रियों की तामसिक बृत्तियों से भयभीत हो तीनों वेदों की शरण ली और उन वेदमन्त्रों से अपनी रक्षा की । इन रक्षा करनेवाले मन्त्रों को छन्द कहते हैं ।

[17] अर्थात जिस प्रकार उथले जल में मछेरा मछलियों को देख लेता है ।

पञ्चम खण्ड

कोई भेद नहीं उद्गीथ और प्रणव में,
सामवेदियों का उद्गीथ, प्रणव ऋग्वेदियों का,
यह जो सूर्य है वह भी उद्गीथ है,
क्योंकि वो स्वरन् करता प्रणव का[18] ।

कौषीतकि ऋषि ने अपने पुत्र से कहा,
मैंने सूर्य की उद्गीथ रूप में की उपासना,
इसी से मेरे तू केवल एक ही पुत्र है,
क्योंकि मैंने उस एक की ही की उपासना ।

अब तू सूर्य और रश्मियों में भेद कर,
भेदरूप से कर रश्मियों का चिन्तन,
इससे निश्चय ही तुझे बहुत पुत्र होंगे,
यह है अधिदैवत[19] उपासना का वर्णन ।

इसके आगे है अध्यात्म उपासना,
मुख्य प्राण की, उद्गीथ रूप में,
'ॐ' इस प्रकार कहता हुआ प्राण,
वागादि को लगाता उनके काम में ।

इसका प्रमुखता से गान करने से,
एक पुत्र पाया कौषीतकि ऋषि ने,
बहुत पुत्र पाने के अभिप्राय से,
भेदगुणविशिष्ट उपासना कहा उन्होंने ।

प्रणव ही उद्गीथ, उद्गीथ ही प्रणव,
इस प्रकार जानता है जो 'होता',
अपने अशुद्ध उच्चारणरूप पाप का,
निवारण कर लेता वो ऐसा 'होता' ।

षष्ठ खण्ड

पृथ्वी ही ऋक् है और अग्नि साम है,
यह अग्निसंज्ञक साम ऋक् में है आश्रित,
ऐसा जान साम का ही गान किया जाता,
पृथ्वी 'सा' से और अग्नि 'अम' से लक्षित ।

जैसे पृथ्वी और अग्नि में भेद नहीं,
वैसे ही भेद नहीं ऋक् और सामवेद में,
क्योंकि यह ऋग्वेद जिसका आधार है,
वह सामवेद अधिष्ठित है उसमें ।

ऐसे ही अन्तरिक्ष, द्यौ, नक्षत्र ऋक् हैं,
वायु, आदित्य और चन्द्रमा हैं साम,
यह जो साम हैं अधिष्ठित हैं ऋक में,
ऐसा समझकर सामवेदी गाते हैं साम ।

सूर्य का उज्ज्वल प्रकाश ऋक् है,
उसमें नीला और काला है साम,
श्वेत प्रकाश 'सा', नीला, काला 'म',
इस प्रकार ये मिलकर हैं साम ।

जो सूर्य में प्रकाशमान पुरुष दिखता,
जिसके मुख के बाल, केश[20] स्वर्ण से,
सिर से नख तक[21] स्वर्ण सा है जो,
जिसके नेत्र हैं खिले हुए कमल[22] से ।

'उत' ऐसा है इस पुरुष का नाम,
क्योंकि वह सब पापों से उबरा हुआ,
जो पुरुष उसे इस प्रकार जानता है,
वो भी पापों से हो जाता उबरा हुआ ।

---

[18] अर्थात ॐ का उच्चारण करता गमन करता है ।
[19] अर्थात देवता सम्बन्धी ।
[20] अर्थात जिसकी किरणें स्वर्ण की तरह प्रकाशमान हैं ।
[21] अर्थात सम्पूर्ण रूप से प्रकाशमान ।
[22] अर्थात भोर और सांझ की लालिमा ।

जो यह सूर्य के बीच स्थित पुरुष है,
उसके दाएँ-बाएँ ऋग-सामवेद गानेवाले,
यह सूर्यमण्डल में स्थित उद्गीथ है,
उद्गाथा कहाते उसका गान करनेवाले ।

सूर्य के बीच में स्थित वह पुरुष,
अधिपति है उससे ऊपर के लोकों का,
वही पूर्ण करता देवताओं की कामनाएँ,
ऐसा यह फल है आधिदैविक उपासना का ।

सप्तम खण्ड

वर्णन अब आध्यात्मिक उपासना का,
वाणी ही ऋक् है और साम है प्राण,
वाणीरूपी ऋग्वेद में स्थित सामवेद का,
वाक् ही 'सा' है और 'अम' है प्राण ।

चक्षु ऋक है और श्रोत्र भी ऋक है,
प्रतिबिम्ब और मन साम हैं दोनों,
चक्षु और श्रोत्र दोनों साम में 'सा',
आत्मा और मन 'अम' हैं दोनों ।

नेत्रों में जो शुक्ल वर्ण है, ऋक है,
नीला और श्यामल वर्ण हैं साम,
इस प्रकार ऋक में साम आश्रित है,
इसी साम का किया जाता गान ।

नेत्रों के मध्य में जो दिखता,
वो पुरुष ही ऋक, साम और उक्थ,[23]
वो ही यजु: है और वो ही ब्रह्म,
आदित्य-पुरुष से नाम, गुण, रूप ।

नीचे के लोक और कामनाओं का,
वो चाक्षुस पुरुष शासन करता,
उसी का गान करता लोक वीणा से,
जिससे वो धनलाभ प्राप्त करता ।

चाक्षुस और आदित्य पुरुष की एकता,
जाननेवाला पुरुष जो सामगान करता,
इसके द्वारा वो ऊपर के लोकों का,
और देवताओं का भोग प्राप्त करता ।

इसी के द्वारा इसके नीचे के लोकों का,
और मानवीय कामनाओं को प्राप्त करता,
इस प्रकार कह उद्गाता यजमान के लिए,
कामनापूर्ति का सामर्थ्य प्राप्त करता ।

अष्टम खण्ड

शिलक, दालभ्य और प्रवाहण ऋषि,
ये तीनों कुशल थे उद्गीथ विद्या में,
तीनों ऋषियों ने विचार किया कि वे,
परस्पर चर्चा करें उद्गीथ के विषय में ।

तब शिलक ने दालभ्य से पूछा,
बतलाएँ क्या आश्रय है साम का,
दालभ्य के 'स्वर' कहने पर शिलक ने,
उससे पूछा क्या आश्रय है स्वर का ?

स्वर का आश्रय प्राण, प्राण का अन्न,
और जल को आश्रय बताया अन्न का,
जल का आश्रय उसने बताया द्युलोक को,
जहाँ से साम ले जाया जा नहीं सकता ।

[23]उक्थ-अर्थात भिन्न-भिन्न देवताओं के वैदिक स्तोत्र ।

स्वर्गलोक का अतिक्रमण कर वहाँ से,
और कहीं ले जाया नही जा सकता साम,
दालभ्य बोले, साम वहीं स्थित करते हैं,
क्योंकि स्वर्गरूप से स्तुत्य है यह साम ।

संतुष्ट न हुआ शिलक इस उत्तर से,
पूछने पर मृत्युलोक आश्रय बताया उसने,
सब साम को मृत्यलोक का आश्रय मानते,
पृथ्वीरूप में साम की स्तुति हुई वेद में ।

तब प्रवाहण ऋषि ने कहा शिलक से,
तुम्हारा ऐसा कहा हुआ साम है नाशवान,
कोई सामवेत्ता अगर ऐसा सुनेगा तो,
उसके शाप से भंग होगा तुम्हारा मान ।

नवम खण्ड

इस लोक का क्या आश्रय पूछने पर,
प्रवाहण ने कहा आकाश आश्रय इसका,
आकाश से ही सब भूत उत्पन्न होते,
और आकाश में ही होता विलय उनका[24] ।

आकाश सा अनन्त, परम उत्कृष्ट उद्गीथ,
इस प्रकार इसको जो विद्वान जानता,
परमोत्कृष्ट हो जाता है उसका जीवन,
उत्तरोत्तर उत्कृष्ट लोक प्राप्त करता जाता ।

शौनक ऋषि ने अपने शिष्य को,
उद्गीथ का वर्णन करके ये कहा,
जब तक तेरी संतति इसे उपासेंगे,
लौकिक जीवन में सफल होंगे सदा ।

परलोक में भी उत्कृष्ट लोक देनेवाला,
इस प्रकार जाननेवाला जो इसे उपासता,
इस लोक में उत्तरोत्तर करता उन्नति,
परलोक में भी उत्कृष्ट लोक वो पाता ।

दशम खण्ड

ओले और पत्थर पड़ने के कारण,
चौपट हुई खेती, दुर्गति फैली कुरुदेश में,
वहाँ इभ्य[25] ग्राम में चक्र का पुत्र उषस्ति,
रहता था आटिकी[26] पत्नी के संग में ।

घुने हुए उड़द खाने वाले महावत से,
उसके याचना करने पर कहा महावत ने,
इन जूठे उड़दों के सिवा कुछ नहीं है,
जिन्हें रख चुका हूँ मैं भोजनपात्र में ।

उषस्ति बोला तू इन्हें ही दे दे,
तो महावत ने दे दिए वे उड़द उसे,
और कहा यह जल भी ले लो,
पर उषस्ति ने जल लिया न उससे ।

---

[24] आकाश से वायु, वायु से अग्नि, अग्नि से जल और जल से पृथ्वी उत्पन्न हुए और प्रलंयकाल में इसके विपरीत क्रम से पृथ्वी जल में, जल अग्नि में अग्नि वायु में और वायु आकाश में लीन होते हैं ।

[25] इभ-इभ हाथी को कहते हैं और उसकी पात्रता रखनेवाला व्यक्ति इभ्य-अर्थात धनी या हाथीवान कहलाता है ।

[26] आटिकी-अर्थात अल्पव्यसका; जिसका अभी स्त्रियोजनित विकास नहीं हुआ हो ।

उषस्ति ने कहा यह जल उच्छिष्ट है,
तो महावत बोला क्या उच्छिष्ट नहीं उड़द,
उषस्ति बोला उड़द बिना जी न सकूँगा,
जल तो यथैच्छ मात्रा में है मुझे उपलब्ध ।

कुछ खा लिए कुछ बचा लिए उसने,
बचे उड़द ले आया वो पत्नी के लिए,
पत्नी पहले ही भिक्षा प्राप्त कर चुकी थी,
उसने वे उड़द रख दिए कल के लिए ।

अगले दिन वे बचे उड़द खाकर,
उषस्ति ऋत्विक बनने को चला,
वहीं समीप एक राजा यजमान,
एक यज्ञ सम्पन्न करने में लगा ।

वहाँ पहुँचकर बैठ गया उषस्ति,
राजा के बुलाए उद्गाताओं के साथ,
स्तुति के स्थान में स्तुति करते हुए,
प्रस्तोता[27] से उषस्ति ने कही यह बात ।

हे प्रस्तोतः! प्रस्ताव-भक्ति में अनुगत,
जो देवता है तू उसे जाने बिना,
यदि इस यज्ञ में प्रस्तवन करेगा,
तो तू हो रहेगा मस्तक के बिना ।

ऐसे ही उसने उद्गाता से कहा,
और प्रतिहर्ता से भी कहा उसने,
अपने-अपने कर्मों से उपरत हो,
मौन होकर वे लगे प्रतीक्षा करने ।

एकादश खण्ड

तब यजमान राजा ने पूछा उससे,
मैं आपका परिचय जानना चाहता,
चक्र का पुत्र उषस्ति कहने पर,
राजा बोला, मैं आपको खोज रहा था ।

इन समस्त ऋत्विक्कर्मों के लिए,
राजा बोला, मैंने श्रीमान को खोजा था,
श्रीमान् के न मिलने से ही मैंने,
दूसरे ऋत्विजों का वरण किया था ।

मेरे समस्त ऋत्विककर्मों के लिए,
आप श्रीमान् ही मुख्य ऋत्विक रहें,
उषस्ति ने स्वीकृति देते हुए कहा,
ये भी यज्ञ में सहायक ऋत्विक रहें ।

मेरे द्वारा स्वीकृति दिए हुए,
ये सभी लोग ही स्तुति कार्य करें,
आप जितना धन इन्हें दोगे,
उतना ही धन मुझे भी प्रदान करें ।

तदनन्तर प्रस्तोता ने उषस्ति से कहा,
बतलाएँ प्रस्ताव में कौन अनुगत देवता,
उषस्ति ने कहा, 'वह देवता प्राण है',
क्योंकि प्राण ही सभी भूतों का अधिष्ठाता ।

---

[27] प्रस्तोता-वेदों में उल्लेखित सोलह प्रकार के ऋत्विजों में से एक । भक्ति-गायन नियमानुसार करने वाले ऋत्विजों को प्रस्तोता (सामवेदी ऋत्विक), उद्गाता तथा प्रतिहर्ता (निवारण करने वाला ऋत्विक, उद्गाता का सहायक) नाम से सम्बोधित किया जाता था ।

उद्गाता के पूछने पर उषस्ति बोला,
उद्गीथ में अनुगत है आदित्य देवता,
क्योंकि सभी प्राणी गान करते हैं,
ऊँचे उठे हुए आदित्य देवता का ।

प्रतिहर्ता के पूछने पर कहा उसने,
प्रतिहार में अनुगत है अन्नदेवता,
अपने प्रति अन्न का हरण करके ही,
जीवित रहना सम्भव होता जीवों का ।

द्वादश खण्ड

इसके पश्चात आरम्भ किया जाता है,
श्वानों[28] से सम्बन्ध रखनेवाला उद्गीथ,
दालभ्य या मित्रा का पुत्र ग्लाव ऋषि,
श्वानों के लिए गाता था यह उद्गीथ ।

उस बक ऋषि पर दया करने के लिए,
एक ऋषि प्रकटे सफेद कुत्ते का रूप ले,
उसे घेर छोटे-छोटे कुत्ते कहने लगे,
हम भूखें हैं, कुछ कीजिए हमारे लिए ।

प्रातःकाल आने को कहा उसने[29] उनसे,
दालभ्य भी उनकी प्रतीक्षा करता रहा,
एक-दूसरे की पूँछ मुख में पकड़े हुए,[30]
हिं-हिं करते प्रातःकाल वे आ पहुँचे वहाँ ।

उसके पीछे वे सब कुत्ते कहने लगे,
हे पालन-पोषणकर्ता सूर्य ! हमारे लिए,
इस संसार में अन्न को उत्पन्न कर,
ताकि 'ॐ' कह कर हम खा-पी सकें ।

त्रयोदश खण्ड

हाउ, हाइ, अथ, इह और ई आदि अक्षर,
सामवेद के ये स्तोभाक्षर[31] हैं साधक,
ये अक्षर जब आते सामवेद पाठन में,
सम्बद्ध देवता का ध्यान करे उपासक ।

हाउ शब्द में यह संसार आरोपित है,
हाइ शब्द में वायु है आरोपित,
अथ शब्द में आरोपित है चन्द्रमा,
इह में आत्मा, ई में अग्नि आरोपित ।

---

[28] दलभ्य ऋषि का पुत्र दालभ्य (बक ऋषि) जिसे मित्रा के द्वारा दत्तक लिए जाने के कारण मित्रा का पुत्र ग्लाव भी कहा गया, एक समय उद्गीथ का अध्ययन करने के लिये एक पवित्र निर्जन जल के समीप स्थल पर उद्गीथ का अध्ययन करने के लिये गया जहाँ अन्न के न पाने से पीड़ित कुत्ते जब भौंकते थे तब उनके शब्द कों सुनकर अन्न के न पाने से जो दुःख होता है उसका अनुभव करके उसकी निवृत्ति के लिये ओर अन्न की प्राप्ति के लिये बक ऋषि उद्गीथ का गान करने लगता था, इस कारण इस उद्गीथ का नाम "शौव उद्गीथ" है ।

[29] श्वेत श्वान से यहां मतलब मुख्य प्राण से है, ओर छोटे छोटे कुत्तों से मतलब वागिन्द्रियों से है, वह बक ऋषि अपने वागिन्द्रिय से कहता है कि हे वाणियों ! तुम लोग उद्गीथ की उपासना करके अन्न को उत्पन्न करो, और मेरे मुख्य प्राण को देवो, ताकि मैं अन्न की दुर्भिक्षता करके पीड़ित न होऊँ ।

[30] उन कुत्तों ने, जिस प्रकार कर्म में बहिष्पवमान स्तोत्र से स्तवन करने वाले उद्गाता परस्पर मिलकर भ्रमण करते हैं, उसी प्रकार भ्रमण किया ।

[31] स्तोभाक्षर-स्तोभ अर्थात स्तुत-जिसकी स्तुति या जय-जयकार की गई हो और स्तोभाक्षर अर्थात ऐसी स्तुति को इंगित करते अक्षर ।

आदित्य देवता सम्बन्धी साम में,
ऊ स्तोभ, सो आदित्य है ऊकार,
निहव का अर्थ है आह्वान करना,
एकार स्तोभ है, निहव एकार ।

वैश्वदेव्य साम में 'ओहोयि' स्तोभ है,
इसलिए विश्वदेव हैं ओहोयिकार,
जिनका निर्वचन नहीं किया जा सकता,
वह अव्यक्त प्रजापति, अव्यक्त हिंकार ।

'स्वर' यह एक प्रकार का स्तोभ है,
और प्राण है उद्गम स्थान स्वर का,
'या' करके यह अन्न का स्तोभाक्षर है,
और वाक् स्तोभाक्षर है विराट का ।

कारणरूपी आत्मा, कार्यरूप हुंकार,
तेरहवाँ स्तोभाक्षर है वह हुंकार,
इसकी उपासना से जो फल मिलता,
सम्भव नहीं बताना किसी प्रकार ।

जो जो वाणी का फल है, उपासक को,
देती है वो फल स्तोभाक्षरों की उपासना,
अन्नवान् और अन्न-भक्षण योग्य होता,
सामवेद के स्तोभाक्षरों को जिसने जाना ।

अथ द्वितीयोअध्याय:

प्रथम खण्ड

पहले ॐ फिर स्तोभाक्षरों की उपासना,
फिर उसका फल कहा इस उपनिषद में,
अब अतिश्रेष्ठ अखण्डसाम की उपासना,
सब प्रकार कल्याण निहित है जिसमें ।

साधु भाव को कहा जाता साम भाव,
और असाधु भाव को कहते असाम,
वैसे ही शुभ होने को कहते साम,
और अशुभ परिणाम को कहते असाम ।

साम को साधु गुणवाला जानकर,
जो उसकी उपासना करता ऐसे,
समस्त शुभ धर्म उसके पास आजाते,
भोग्यरूप से प्राप्त हो जाते वे उसे ।

द्वितीय खण्ड

पृथ्वी हिंकार, अग्नि प्रस्ताव, आकाश उद्गीथ,
सूर्य प्रतिहार है और आश्रय है द्युलोक,
ऊपर वर्णित इस प्रकार ये पाँच साम[32] हैं,
उत्तरोत्तर उर्ध्वगति की उपासना के ये लोक ।

वही उपासक साम के पाँच अंगों की,
करे उपासना नीचे कहे हुए प्रकार से,
स्वर्ग हिंकार, सूर्य प्रस्ताव, आकाश उद्गीथ,
अग्नि प्रतिहार, पृथ्वी का निधन रूप[33] से ।

जो इसे इस प्रकार जाननेवाला पुरुष,
लोकों में पञ्चविध साम को उपासता,
उसके प्रति उर्ध्व और अधोमुख लोक,
भोग्यरूप से उपस्थित होकर रहता ।

तृतीय खण्ड

वृष्टि के रूप में साम की उपासना,
इस प्रकार करनी चाहिए साधक को,
जो वायु वर्षा के पहले चलता है,
उस वायु को हिंकार रूप समझे वो ।

---

[32] यहाँ यह प्रश्न उठता है कि साम का अर्थ साधु यानी धर्म है, ओर पृथ्वी आदि असाम है, अत: साम और असाम की सदृशता केसे हो सकती. है ? इसके उत्तर में भाष्यकार कहते हैं कि वादी का कथन असंगत हैं; क्योंकि धर्मरूपी ब्रह्मा से पृथ्वी आदि की उत्पत्ति हुई है, इसलिये ये सब असाम नहीं हैं सामरूप ही हैं, कारण ओर कार्य में कोई भिन्नता नहीं होती है, जो कारण है वही कार्य है, ऐसा समझकर मन्त्र ने साम की पांच प्रकार की उपासना पृथ्वी आदि में आरोप करके कहा है । हिंकार सामगान का एक अंग है जिसमें उद्गाता गीत के बीच-बीच में 'हिं' का उच्चारण करता है । प्रस्ताव से तात्पर्य है परिचयात्मक स्तुति; प्रतिहार सामवेद का एक अंग जो संधि या प्रवेशद्वार की तरह है, जो प्रतिहरण अर्थात एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले जाने का कार्य करता है और निधन- अर्थात आश्रय; उनका आश्रय स्थल जो यहाँ से मरकर जाते हैं (स्वर्ग लोक) ।

[33] पृथ्वी का निधनरूप से-अर्थात उनका आश्रय स्थल जो स्वर्ग से लौट कर आए हों ।

मेघ प्रस्ताव, बरसनेवाला मेघ उद्गीथ,
गरजने, चमकनेवाली बिजली प्रतिहार,
सृष्टि का कल्याण करनेवाली वर्षा,
ऐसे उपासना जीवों का करती उपकार ।

जल जमा करनेवाला बादल निधन,
वही उपासक के लिए वर्षा करता,
यों जान पाँचों अंगों सहित उपासना,
वृष्टि न हो तो भी वृष्टि करा सकता ।

चतुर्थ खण्ड

जलों में पाँच साम की उपासना,
करनी चाहिए इस प्रकार साधक को,
घनीभाव को प्राप्त मेघ हिंकार,
प्रस्ताव विचारे बरसनेवाला मेघ को ।

पूर्व को बहते जल को उद्गीथ,
पश्चिम की ओर बहता जल प्रतिहार,
और समुद्र को जो जानता निधन,
उसे जल सुख देता सभी प्रकार ।

पञ्चम खण्ड

ऋतुओं में पाँच साम की उपासना,
करनी चाहिए इस प्रकार साधक को,
वसन्त ऋतु को वो समझे हिंकार,
प्रस्ताव समझे वो ग्रीष्म ऋतु को ।

वर्षा ऋतु को उद्गीथ समझे वो,
शरद ऋतु को समझे प्रतिहार,
और हेमंत ऋतु को निधन जानकर,
ऋतुओं से सुख पाता, सब प्रकार ।

षष्ठ खण्ड

पशुओं के संदर्भ में बकरे हिंकार,
भेड़े प्रस्ताव और गौएँ उद्गीथ,
अश्व प्रतिहार, पुरुष निधनरूप,
ऐसे ज्ञाता के पशु होते मीत ।

सप्तम खण्ड

प्राणों में पाँच परोवरीय[34] साम उपासना,
प्राण हिंकार, वाक् प्रस्ताव, चक्षु उद्गीथ,
श्रोत्र प्रतिहार और मन निधन जानना,
ये उपासनाएँ उत्तरोत्तर श्रेष्ठता की प्रतीक ।

उत्तरोत्तर उत्कृष्टतर साम की उपासना,
जो पुरुष यों जानकर प्राणों में करता,
उत्तरोत्तर उत्कृष्टतर होता जाता जीवन,
और उत्तरोत्तर उत्कृष्टतर लोक वो पाता ।

अष्टम खण्ड

अथ: सप्तविध साम उपासना प्रकरण,
वाणी में हो सप्तविध साम की उपासना,
हैं, प्र इत्यादि शब्द जो आते वाणी में,
उन शब्दों को कैसे सामरूप समझना ।

[34] परोवरीय-अर्थात उत्तरोत्तर उत्कृष्ट ।

'हैं' हिंकार, 'प्र' प्रस्ताव, 'आ' आदि है,
'उत्' उद्गीथ, 'प्रति' को प्रतिहार जानना,
'उप' उपद्रव और 'नि' निधन रूप है,
ऐसा जानना, सफल करती उपासना ।

जो कुछ भी वाणी का दोह[35] है,
वाणी उसे देती ऐसे उपासक को,
प्रचुर अन्न से सम्पन्न होता,
और उसको भले से भोगता वो ।

नवम खण्ड

अब सप्तविध साम की उपासना,
करनी चाहिए आदित्य के रूप में,
सर्वदा सम[36] इसलिए है वह साम,
सबको दिखता वह एक ही रूप में[37] ।

सम्पूर्ण भूत हैं आदित्य में अनुगत,[38]
पशु अनुगत उदय से पूर्व हिंकार में,
इस हिंकार की उपासना करनेवाले पशु,
लगे रहते सदा हिं-हिं शब्द करने में ।

पहले-पहल उदित होने पर सूर्य का,
जो रूप होता है वह है प्रस्ताव,
मनुष्य अनुगामी हैं उस रूप के,
प्रस्तुति और प्रशंसा[39] का रखते भाव ।

संगववेला[40] में सूर्य का रूप है जो,
भक्तिविशेष ओंकार भाग है सामवेद् का,
पक्षी इस काल की उपासना करनेवाले,
नभ में उड़ते भरोसा रख अपने बल का ।

मध्य दिवस में आदित्य का रूप,
वह रूप होता है रूप उद्गीथ का,
देवता अनुगत हैं इसके उस रूप में,
क्योंकि वे हिस्सा हैं उद्गीथभक्ति का ।

मध्याह्न के बाद और अपराह्न के पूर्व,
आदित्य का वह रूप होता है प्रतिहार,
उसके उस रूप के अनुगामी गर्भस्थभ्रूण,
नीचे नहीं गिरते,[41] प्रतिहारभक्ति के पात्र ।

अपराह्न के बाद और सूर्यास्त से पूर्व,
उपद्रव रूप होता है वो रूप आदित्य का,
इसके अनुगामी वे वन्य पशु भाग जाते,
उपद्रवभक्तिभागी वे रुख करते गुफा का ।

सूर्यास्त से पूर्व रूप, वो निधन है,
पितृगण अनुगत हैं उसके उस रूप के,
कुशों पर पिण्डरूप में स्थापित किए जाते,
वे पितृगण पात्र साम की निधनभक्ति के ।

---

[35] वाणी का दोह-अर्थात वाणी जो भी दोहन कर सकती है; प्राप्त कर सकती है ।

[36] सर्वदा सम-अर्थात वह घटता-बढ़ता नहीं है ।

[37] अर्थात सभी प्राणी सूर्य को अपने-अपने सम्मुख एक जैसा ही देखते हैं । जैसे आदित्य समान बुद्धि का उत्पन्न करनेवाला है, वैसे ही साम भी समान बुद्धि का उत्पन्न करनेवाला है ।

[38] अनुगत-अर्थात अनुयायी, आश्रित ।

[39] प्रस्तुति और प्रशंसा-अर्थात प्रत्यक्ष स्तुति और परोक्ष स्तुति की इच्छा रखते हैं ।

[40] संगववेला-अर्थात सूर्योदय से तीन मुहूर्त बाद का समय । एक मुहूर्त 48 मिनट का होता है, इस संगववेला में गोएँ अपने बछड़ों से मिलती हैं ।

[41] नीचे नहीं गिरते-क्योंकि वे सूर्य की प्रतिहारभक्तिरूप से ऊपर की ओर प्रतिहृत (आकृष्ट) होने के कारण पतन के द्वार पर रहते हुए भी, नीचे नहीं गिरते ।

दशम खण्ड

परमात्मा तुल्य, मृत्यु को जय[42] करनेवाला,
सात अंगों सहित है जो आगे वर्णित साम,
हिंकार और प्रस्ताव दोनों तीन अक्षरवाले,
दोनों बराबर, दोनों एक से उपास्य साम ।

आदि स्तोभ है दो अक्षरवाला,
चार अक्षरवाला है प्रतिहार स्तोभ,
एक अक्षर निकाल, दूसरे में जोड़ने से,
दोनों होंगे तीन अक्षरवाले स्तोभ ।

उद्‌गीथ तीन अक्षरवाला स्तोभ है,
और उपद्रव स्तोभ है चार अक्षरवाला,
दोनों तीन अक्षर में समान हैं,
उपद्रव का चौथा[43] भी तीन अक्षरवाला ।

निधन भी है तीन तीन अक्षरवाला,
अत: यह भी है उनके ही समान,
इस प्रकार ये मिलकर बाईस अक्षर[44] हैं,
सात प्रकार की भक्तियों के नाम ।

इक्कीस अक्षरों के द्‌वारा साधक,
उपासना कर आदित्य लोक को पाता,
इस लोक से आदित्य इक्कीसवाँ[45] लोक है,
बाइसवें से शोकरहित ब्रह्मलोक पाता ।

उपरोक्त सात अंगों वाले साम की,
जो पुरुष इस प्रकार उपासना करता,
सूर्यलोक को जीत, जाता ब्रह्मलोक को,
जहाँ वो मोक्ष का पात्र बन जाता ।

एकादश खण्ड

अब वर्णन गायत्र साम की उपासना का,
इन्द्रियविशिष्ट प्राण की है ये उपासना,
मन के अनुगत है उपासना हिंकार की,
वाणी के अनुगत है प्रस्ताव की उपासना ।

नेत्र के अनुगत है उद्‌गीथ की उपासना,
श्रोत्र के अनुगत उपासना प्रतिहार की,
प्राण के अनुगत है निधन की उपासना,
यों अपेक्षित उपासना गायत्र साम की ।

इस प्रकार गायत्र साम को जो उपासता,
सम्पन्न होता इन्द्रियों की शक्ति से,
दीर्घ जीवन, शुद्‌ध अन्त:करण होता,
प्रजा, पशु, यश आदि सब मिलता उसे ।

---

[42] दिवस और रात्रि आदि काल के द्‌वारा जगत का क्रमश: प्रलय करनेवाला होने के कारण आदित्य मृत्यु है, जिसे पार करने के लिए यह सामोपासना का उपदेश है ।

[43] उपद्रव में उसका चौथा अक्षर यों तो अकेला ही अक्षर है लेकिन 'अक्षर' होने के कारण उसमें भी तीन अक्षर अर्थात अ, क्ष और र हैं ।

[44] बाईस अक्षर-सात स्तोभ (हिंकार, प्रस्ताव, आदि, प्रतिहार, उद्‌गीथ, उपद्रव और निधन) तीन-तीन अक्षरवाले मिलकर इक्कीस और एक (उपरोक्त चौथा अक्षर) मिलकर बाईस अक्षर ।

[45] बारह महीने, पाँच ऋतुएँ, तीन ये लोक और इक्कीसवाँ वह आदित्य लोक है ।

द्वादश खण्ड

अरणियाँ रगड़ने से उत्पन्न अग्नि,
हिंकाररूप है वह अग्नि यज्ञ में,
जो धूम होता वो प्रस्तावरूप है,
उद्गीथ प्रज्ज्वलित लौ अग्नि में ।

जो अंगार प्रतीत होते, प्रतिहार हैं,
कुछ-कुछ बुझती अग्नि है निधन,
बिल्कुल बुझी अग्नि भी निधन है,
यह रथन्तर साम है अग्नि अनुगत ।

अग्नि में अनुस्यूत[46] इसे जो ऐसे जानता,
ब्रह्मतेज सम्पन्न, अन्न का भोक्ता होता,
समृद्ध दीर्घ जीवन जीता, महान होता,
न अग्नि के समक्ष भक्षण, न ही थूकता ।

त्रयोदश खण्ड

स्त्री के साथ में वैवाहिक जीवन,
हिंकारादि रूप में साम की उपासना,
वायु और जल के योग से सम्बन्धित,
यह वामदेव्य नामक साम उपासना।

दाम्पत्य सुख से सम्पन्न होता वो,
प्राप्त करता वो उत्तम सन्तान को,
उज्ज्वल, दीर्घ, महान जीवन जीता,
किसी भी पत्नी को[47] नहीं त्यागता वो ।

चतुर्दश खण्ड

उदित होता हुआ सूर्य हिंकार है,
उदित हुआ प्रस्ताव, चढ़ा हुआ उद्गीथ,
अपराह्नकालीन प्रतिहार, अस्तगामी निधन,
यह बृहत्साम उपासना, सूर्य सम्बन्धित ।

बृहत्साम को सूर्य में स्थित जो जानता,
तेजस्वी होता, अन्न का भोग करता,
पूर्ण, सुखी और यशस्वी जीवन जीता,
तपते सूर्य की निन्दा न करे व्रत लेता ।

पञ्चदश खण्ड

हल्के बादल हिंकार, घने प्रस्ताव,
उद्गीथ है वो जो जल बरसता,
बिजली प्रतिहार, वृष्टि-उपसंहार निधन,
यह वैरूपसाम मेघ का अधिष्ठाता ।

जानता जो इस प्रकार वैरूपसाम को,
वो विरूप और सुरूप पशुओं को पाता,
महान, दीर्घ, यशस्वी जीवन जीता वो,
बरसते मेघ की कभी निन्दा न करता ।

---

[46] अनुस्यूत-अर्थात ग्रथित, पिरोया हुआ ।

[47] यदि एक से अधिक पत्नी हो तो वो किसी भी पत्नी को नहीं त्यागने का व्रत लेता है ।

षोडश खण्ड

ऋतुओं के सन्दर्भ में वसन्त हिंकार,
वर्षा उद्गीथ, शरद ऋतु है प्रतिहार,
हेमन्त ऋतु की निधन रूप में उपासना,
इस वैराजसाम को जानें इस प्रकार ।

वैराजसाम को ऋतुओं में अनुस्यूत,
जो पुरुष इस प्रकार से जानता,
प्रजा, पशु, ब्रह्मतेज से शोभित होता,
ऋतुओं की निन्दा कभी न करता ।

सप्तदश खण्ड

पृथ्वी हिंकार, अन्तरिक्ष प्रस्ताव,
द्युलोक उद्गीथ और दिशाएँ प्रतिहार,
समुद्र की उपासना निधन रूप में,
लोकों में अनुगत शक्करीसाम इस प्रकार ।

जो पुरुष इसको जानता है इस प्रकार,
लोकवान होता, पूर्ण आयु उपभोग करता,
प्रजावान, पशुवान और महान होता वो,
लोकों की निन्दा न करने का व्रत लेता ।

अष्टादश खण्ड

बकरी हिंकार, भेड़ें प्रस्ताव हैं,
गौएँ उद्गीथ हैं और घोड़े प्रतिहार,
पुरुष की उपासना निधन रूप में,
यह रेवती साम जानें इस प्रकार ।

पशुओं में इसे ऐसे अनुस्यूत जो जानता,
पशुमान होता, पूर्ण आयु उपभोग करता,
महान होता और यश का पात्र होता,
पशुओं की निन्दा न करने का व्रत लेता ।

एकोनविंश खण्ड

लोम हिंकार, त्वचा प्रस्ताव हैं,
मांस उद्गीथ हैं और अस्थि प्रतिहार,
मज्जा को निधन रूप में जानना,
यह यज्ञायज्ञीय साम है इस प्रकार ।

अंगों में अनुस्यूत इसे ऐसे जो जानता,
अंग के कारण वो कुटिल नहीं होता,
समृद्ध, दीर्घायु और यश पाता वो,
निरामिष जीवन का व्रत वो निभाता ।

विंश खण्ड

अग्नि हिंकार और वायु प्रस्ताव है,
आदित्य उद्गीथ और नक्षत्र प्रतिहार,
चन्द्रमा की निधन रूप में उपासना,
इस राजन साम को जानें इस प्रकार ।

इस साम को देवताओं में अनुस्यूत जानना,
सालोक्य, सार्ष्टित्व, सायुज्य[48] प्राप्त कराता,
जीवन के उत्कर्ष पर पहुँचता वो उपासक,
ब्राह्मणों की निन्दा न करे, व्रत निभाता।

[48] अर्थात देवताओं के समान लोक, समान एश्वर्य और एक ही देह के देहित्व को प्राप्त होता है ।

एकविंश खण्ड

त्रयीविद्या हिंकार, ये तीन लोक प्रस्ताव,
अग्नि, वायु और आदित्य हैं उद्गीथ,
नक्षत्र, पक्षी और किरणें प्रतिहार हैं,
सर्प, गंधर्व और पितर निधन के प्रतीक ।

सब में अनुस्यूत है यह सामोपासना,
सर्वरूप हो जाता है इसे जाननेवाला,
इस खण्ड में साम के जो पांच अंग हैं,
प्रत्येक अंग है तीन-तीन रूपवाला ।

पाँच प्रकार के जो तीन-तीन बतलाये,
उनसे श्रेष्ठ, उनके सिवा कोई और नहीं,
जो इस सर्वात्मक साम को जानता है,
सब कुछ जाननेवाला होजाता है वही ।

जो इस प्रकार इसे जाननेवाला होता,
सब दिशाएँ उसको भोग वस्तुएँ देतीं,
मैं सब कुछ हूँ, ऐसे इसकी उपासना करे,
यह नियम है, पालना हो सदा इसकी ।

द्वाविंश खण्ड

पशुओं का हित चाहनेवाला उपासक,
'विनर्दि'[49] नामक गान का करे वरण,
अग्नि देवता सम्बन्धी उद्गीथ है ये,
इस विशिष्ट साम का वो करे वरण ।

अनिरुक्त[50] है प्रजापति का गानविशेष,
निरुक्त है सोमदेवता सम्बन्धी उद्गान,
वायु देवता सम्बन्धी मृदु और श्लक्ष्ण,[51]
श्लक्ष्ण ओर बलवान इन्द्र सम्बन्धी गान ।

क्रौंचपक्षी के समान गान बृहस्पती का,
वरुण का फूटे काँसे के स्वर समान,
इन सभी का प्रयोग करे वो उपासक,
लेकिन त्याग देवे वरुण सम्बन्धी गान ।

आगान करूँ देवताओं हेतु अमृतत्व का,
पितृगण के लिए करूँ स्वधा का आगान,
मनुष्यों हेतु आगान करूँ मैं आशा का,
पशुओं हेतु तृण और जल का आगान ।

यजमान हेतु आगान करूँ स्वर्ग का,
अपने लिए करूँ अन्न का आगान,
ऐसे इनका मन में चिन्तन करते,
प्रमादरहित हो करूँ मैं स्तुतिगान ।

---

[49] विनर्दि-अर्थात जिसका नर्द यानीस्वरविशेष ऋषभ (बैल) के शब्द के समान विशिष्ट है वह विनर्दिगान है ।

[50] अनिरुक्त-जिसे किसी के तुल्य है ऐसा न कहा जा सके क्योंकि प्रजापति भी विशेषरूप से निरुपित नहीं किया जा सकता ।

[51] श्लक्ष्ण-अर्थात कर्णप्रिय ।

अकारादि स्वर[52] सम्बन्धित हैं इन्द्र से,
समस्त उष्मवर्ण सम्बन्धित प्रजापति से,
स्पर्शवर्ण का सम्बन्ध मृत्यु देवता से,
पूछे तो उच्चारण-दोष का उत्तर दे ऐसे ।

स्वरों के उच्चारण में दोष के लिए कहे,
इन्द्र के शरणागत मैं, वही तुझे उत्तर देंगे,
उष्मवर्णों के लिए कहे मैं जिनकी शरण,
वो प्रजापति ही तेरा मान मर्दन करेंगे ।

स्पर्शवर्ण के उच्चारण में दोष के लिए,
यदि कोई उलाहना दे तो उससे कहे,
मैं मृत्यु की शरण को प्राप्त था,
वही तुझे इसके लिए भस्मीभूत करे ।

घोषयुक्त और बलयुक्त उच्चारण,
किया जाना चाहिए सभी स्वरों का,
मैं इन्द्र में बल का आधान करूँ,
ऐसा सोच उच्चारण करे स्वरों का ।

उष्म अक्षर उच्चारण करने योग्य हैं,
अग्रस्त, अनिरस्त और विवृतरूप[53] से,
मैं प्रजापति को आत्मदान करूँ,
चिन्तन करना चाहिए उस समय उसे ।

एक-दूसरे से तनिक भी मिलाये बिना ही,
उचित उच्चारण समस्त स्पर्शवर्णों का,
और 'मैं मृत्यु से अपना परिहार करूँ',
उचित चिन्तन करना उसे उस समय ऐसा ।

त्रयोविंश खण्ड

धर्म के तीन स्कन्धों में से है,
पहला स्कन्ध यज्ञ, अध्ययन और दान,
तप ही धर्म का दूसरा स्कन्ध है,
क्षीणकाय ब्रह्मचारी[54] का तीसरा स्थान ।

इस प्रकार से तप करनेवाले,
पुण्य लोकों को वे होते हैं प्राप्त,
लेकिन ब्रह्म का उपासक सन्यासी,
वो तो अमृतत्व को कर लेता प्राप्त ।

लोकों के निमित्त तप किया प्रजापति ने,
तीन लोक उत्पन्न हुए उस चिन्तन से,
अभितप्त लोकों से हुई त्रयीविद्या उत्पन्न,
और 'भूः भुवः और स्वः' ये अक्षर उससे ।

फिर उसने इन अक्षरों का किया चिन्तन,
ओंकार उत्पन्न हुआ इस चिन्तन से,
डंठे के आसरे जैसे सब पत्ते लगे रहते,
ओंकार के आसरे वाणी व्याप्त हे ऐसे ।

---

[52] हिंदी वर्णमाला में 52 वर्ण होते हैं जिनमें 'अ', 'आ', 'इ' 'ई' आदि 11 स्वर और शेष 41 व्यंजन होते हैं । इन 41 में 'श', 'ष', 'स', 'ह' ये चार उष्मवर्ण कहे जाते हैं जिनके उच्चारण के समय मुख से विशेष प्रकार की उष्म वायु निकलती है । 'क' से लेकर 'म' तक ये 25 स्पर्शवर्ण होते हैं जिनके उच्चारण के समय जिह्वा मुख के भिन्न-भिन्न भागों को स्पर्श करती है ।

[53] अग्रस्त-भीतर बिना प्रवेश कराए; अनिरस्त-बाहर बिना निकाले हुए; विवृत स्वर अर्थात निम्न स्वर जिसमें जिह्वा को मुँह में जितना सम्भव हो सके उतना नीचे और तालू से दूर रखा जाता है । उदाहरण के लिए 'आ' एक ऐसा स्वर है ।

[54] क्षीणकाय ब्रह्मचारी-अर्थात आचार्यकुल में रहने वाला ब्रह्मचारी जो आचार्यकुल में अपने शरीर को अत्यन्त क्षीण कर देता है ।

संसार में जितना नामधेयमात्र[55] हैं,
सब परमात्मा का ही है विकार,
अत: यह सब ओंकार ही है,
जो कुछ भी है सब है ओंकार ।

चतुर्विंश खण्ड

प्रात:सवन[56] होता वसुओं के निमित्त,
मध्यान्हसवन रुद्रों के, ब्रह्मवादी कहते,
सांयकाल का आदित्य ओर विश्वेदेवों का,
इनसे जुड़े लोक[57] उनके वश में रहते ।

जब तीनों लोक देवताओं के हो चुके,
तब कहाँ जाएगा यज्ञकर्ता मृत्यु के बाद,
यदि वो उस लोक को न जानें तो,
किस लिए करे वो यज्ञ करने की बात ?

इसके समाधान में कहा गया कि,
यज्ञ करे वो निम्न उपाय को जान,
प्रात:काल गार्हपत्य अग्नि के पीछे,[58]
वो वसुदेवतावाले साम का करे गान ।

हे अग्निदेव ! खोल दें मेरे लिए,
द्वार आप इस पृथ्वीलोक के,
उस द्वार से दर्शन करें आपका,
हम एश्वर्य की प्राप्ति के लिए ।

फिर अग्नि में हव्य देता यजमान,
पृथ्वीलोकवासी अग्नि को नमन करते,
कहे, मुझ यज्ञकर्ता के लिए तू लोक दे,
ताकि तेरा दिया वो लोक मिले मुझे ।

मृत्यु होने पर पुण्यलोक को पाउँगा,
ऐसा सोच 'स्वाहा' कहते हवन करता,
उत्थान करता 'परिघ[59] नष्ट करो' कहते,
वसुओं द्वारा उसे यज्ञ का फल मिलता ।

दोपहर के यज्ञ के आरम्भ से पहिले,
दक्षिणाग्नि के पीछे उत्तराभिमुख बेठकर,
अन्तरिक्षलोक के द्वार खोलने को कहता,
वो लोक मिले हमें रुद्रदेव के दर्शन कर ।

फिर वायुदेव को नमस्कार कर कहता,
प्राप्ति कराओ अन्तरिक्षलोक की मुझको,
यह निश्चय ही यजमान का लोक है,
निश्चय ही मैं पाऊँ उस लोक को ।

मृत्यु होने पर अन्तरिक्षलोक को पाउँगा,
ऐसा सोच 'स्वाहा' कहते हवन करता,
उत्थान करता 'परिघ नष्ट करो' कहते,
रुद्रों द्वारा उसे यज्ञ का फल मिलता ।

---

[55] नामधेयमात्र-अर्थात नामवाला, जिसको किसी नाम से पुकारा जा सके ।

[56] प्रात:सवन-तीन प्रमुख सोमयागों में से एक । वैदिक समय में दो प्रकार के यज्ञ होते थे, एक तो दूध, दही आदि की आहुतियों से जिन्हें हविर्यज्ञ कहा जाता था और दूसरे जिसमें सोमरस की आहूति दी जाती थी, जिन्हें सोमयज्ञ कहा जाता था ।

[57] सम्बन्धित लोक-अर्थात भूलोक वसुओं के अधीन है, भुव:लोक रुद्रों के अधीन है और स्व:लोक आदित्य ओर विश्वेदेवों के अधीन है ।

[58] प्रातःकाल शस्त्रस्तोत्र के आरम्भ से पहिले और गाहेपत्य अग्नि के पीछे उत्तरमुख होकर वसुदेवतावाले साम का गान करे ।

[59] परिघ-अर्थात अर्गल, आड़ हेतु रखी गई कोई वस्तु ।

सांयकाल के यज्ञ के आरम्भ से पहिले,
आहवनीय अग्नि के पीछे बैठकर,
स्वर्गलोक के द्वार खोलने को कहता,
आदित्य और विश्वदेव के दर्शन कर ।

फिर आदित्य और विश्वदेव सम्बन्धी,
साम गान कर यजमान प्रार्थना करता,
हे अग्ने ! उनसे सम्बन्धित द्वार खोल दे,
साम्राज्य पाने को तेरा दर्शन करता ।

फिर सब देवों को नमस्कार कर कहता,
प्राप्ति कराओ लोक की मुझ यजमान को,
यह निश्चय ही यजमान का लोक है,
निश्चय ही मैं पाऊँ उस लोक को ।

मृत्यु होने पर उस लोक को पाउँगा,
ऐसा सोच 'स्वाहा' कहते हवन करता,
उत्थान करता 'परिघ नष्ट करो' कहते,
निश्चय ही उसे यज्ञ का फल मिलता ।

इस यज्ञ के यथार्थस्वरूप को,
भली प्रकार जो यजमान जानता,
सायंकाल के यज्ञ का फल देते उसे,
आदित्यदेवता और विश्वेदेव देवता ।

अथ तृतीयोअध्याय:

प्रथम खण्ड

निश्चय ही आदित्य है देवताओं का मधु,
क्योंकि जैसे मधु से आनन्द मिलता,
वैसे ही सूर्य की उपासना करने से,
उपासक को सब प्रकार का सुख मिलता ।

यज्ञ में कर्म करके जो फल होता,
वह सब जाकर सूर्य में स्थित रहता,
इसी कारण सूर्य चमकता प्रखरता से,
और सब ओर अपना प्रकाश बिखेरता ।

सूर्य लटका द्युलोकरूपी तिरछे बाँस पर,
अन्तरिक्ष है इस सूर्यरूपी मधु का छत्ता,
जैसे छत्ते के छिद्रों में मधु भरा रहता,
किरणों में यश और तेजादि भरा रहता ।

पूर्ववर्ती किरणें मधुछत्ते के छिद्र से,
मधु के उत्पत्ति के वे हैं स्थान,
ऋग्वेद के मन्त्र ही मधुमक्खी हैं,
और ऋग्वेद के कर्म ही पुष्प समान ।

अग्नि में हव्य डालने से उत्पन्न रस,
वह अमृतरूप जल है मधु के जैसा,
मधुमक्खी जैसे पुष्पों से मधु बनाती,
वेदमन्त्र हव्य से मधु बनाते वैसा ।

उन इन ऋकरूपी मधुकरों ने ही,
इस ऋग्वेद का अभिताप किया,
यश, कांति, इन्द्रियशक्ति, बल आदि,
इस यज्ञकर्मरूपी पुष्प ने पैदा किया ।

वह यश आदि रस विशेषरूप से जा,
आदित्य के पूर्व भाग में हुआ स्थित,
यह जो आदित्य का रोहित[60] रूप है,
वही यह रस है जो उसमें दर्शित ।

द्वितीय खण्ड

यजुर्वेद के मन्त्रों के रूप में दिया हव्य,
उसका रस पहुँचता सूर्य में धूम होकर,
मधुरूप में वे दक्षिण दिशा की किरणें,
सूर्य-उपासकों को मिलती उससे पलटकर ।

उन इन यजु:श्रुतियों ने ही,
इस यजुर्वेद का अभिताप किया,
यश, कांति, इन्द्रियशक्ति, बल आदि,
इस यज्ञकर्म ने उत्पन्न किया ।

वह रस विशेषरूप से जाकर,
सूर्य के दक्षिण भाग में हुआ स्थित,
यह जो आदित्य का शुक्ल रूप है,
वही यह रस है जो उसमें लक्षित ।

[60] रोहित-अर्थात सूर्य की प्रात:कालीन लाल प्रभा ।

तृतीय एवं चतुर्थ खण्ड

ऐसे ही सामश्रुतियाँ से उत्पन्न हुआ रस,
पश्चिमी किरणों के रूप में होता लक्षित,
अथर्ववेद, इतिहास, पुराण से मिला रस,
सूर्य के उत्तर के कृष्णरूप में होता लक्षित ।

पञ्चम खण्ड

और सूर्य की जो उर्ध्व रश्मियाँ हैं,
वे ही हैं मधु निकलने के स्थान,
गुह्य उपदेश मधुकर, ब्रह्म पुष्प है,
घृत, दुग्धादि हव्य अमृत समान ।

उन इन गुह्य उपदेशों ने ही,
प्रणवरूप ब्रह्म का अभिताप किया,
यश, कांति, इन्द्रियशक्ति, बल आदि,
उस अभितप्त ब्रह्म ने उत्पन्न किया ।

वह रस विशेषरूप से जाकर,
सूर्य के उर्ध्व भाग में हुआ स्थित,
यह जो सूर्य के मध्य में क्षुब्ध सा है,
वही यह रस है जो उसमें लक्षित ।

वेद सब वस्तुओं के सार हैं,
उनका सार सूर्य की लालश्वेतादि प्रभा,
और वे ही अमृतों के अमृत हैं,
उनका अमृत है श्वेतादि सूर्य की प्रभा ।

षष्ठ खण्ड

इनमें जो पहला अमृत है उससे वसुगण,
अग्निप्रधान हो करते जीवन धारण,
देवगण न तो खाते हैं, न पीते ही हैं,
तृप्त हो जाते इस अमृत का कर दर्शन ।

इस रोहित प्रभा को देख तृप्त हो,
वसुदेवता उदासीन हो उसी में पड़े रहते,
और फिर जब भोग का समय आता,
पुनः उत्साहित हो उद्योग में लग रहते ।

जो इस अमृत की उपासना करता ऐसे,
उन वसुओं में से ही एक हो जाता,
अग्नि की ही प्रधानता से इसे देखकर,
बस देखने मात्र से तृप्त हो जाता ।

वह इस रूप को लक्ष्य करके ही,
उदासीन और उत्साहित हो रहता,
जब तक उदय और अस्त होगा सूर्य,
वसुओं सा ही वो श्रीयुक्त हो रहता ।

सप्तम, अष्टम एवं नवम खण्ड

ऐसे ही दूसरे, तीसरे और चौथे अमृत से,
रूद्रगण, आदित्यगण और मरुदगण,
इन्द्रप्रधान, वरुणप्रधान और सोमप्रधान हो,
उनके आश्रित, तृप्त होते पा उनका दर्शन ।

जो इन अमृतों की उपासना करता ऐसे,
उन रुद्रादिगणों में से ही एक हो जाता,
और पिछले से क्रमश: दोगुने समय[61] तक,
रुद्रादिगणों सा ही वो श्रीयुक्त हो रहता ।

दशम खण्ड

पाँचवे अमृत के आश्रित साध्यगण,[62]
जीवन धारण करते ब्रह्मा की प्रधानता से,
और चौथे अमृत से दोगुने समय[63] तक,
आधिपत्य और स्वाराज्य[64] पाते साध्यों के ।

एकादश खण्ड

चारों दिशाओं से उदित होकर सूर्य,
फिर उर्ध्वगत होकर उदित होने पर,
न तो उदित होगा, न अस्त होगा,
तब सूर्य रहेगा मध्य में स्थित होकर ।

स्वयं प्रकाश में स्थित हो रहने पर,
सब जीवों को अपने में लीन कर लेता,
उदयास्त जीवों के कर्मफल भोगार्थ होता,
सो बिना जीव सूर्य भी स्थिर हो रहता ।

वसुपदवी को पहुँचे, ब्रह्मलोक से लौटे,
सूर्य उपासक ने ज्ञानी के पूछने पर कहा,
जहाँ से मैं आया सूर्य का उदयास्त नहीं,
अमर रहते हैं वे जीव जो रहते हैं वहाँ ।

वहाँ निश्चय ही ऐसा नहीं होता,
उदित न अस्त होता सूर्य वहाँ पर,
यदि यह मेरा कथन असत्य है।,
तो मैं रहूँ मोक्ष पद से पतित होकर ।

ऐसे जो इस वेदरहस्य को जानता,
उसके लिए सदा-सर्वदा दिन ही रहता,
हिरण्यगर्भ ब्रह्मा से चलकर यह ज्ञान,
परम्परा से आरुणेय उद्धालक को मिला ।

पिता इस ब्रह्मविज्ञान का उपदेश,
ज्येष्ठ पुत्र या योग्य शिष्य को ही करे,
अकूत धन-सम्पत्ति से भी बढ़कर,
इस श्रेष्ठ ब्रह्मविद्या का सम्मान करे ।

---

[61] आदित्य पूर्व दिशा से उदित होता है और पश्चिम दिशा में अस्त होता है, उससे दोगुने समय तक वह दक्षिण से उदित होता है और उत्तर में अस्त होता है; उससे भी दोगुने समय तक पश्चिम से उदित होता है और पूर्व में अस्त होता रहता है और उससे दोगुने समय तक उत्तर से उदित होता है और दक्षिण में अस्त होता रहता है । इतने समय तक दूसरे, तीसरे और चौथे अमृत के उपासक उन देवताओं के आधिपत्य और स्वाराज्य को प्राप्त होते हैं ।

[62] साध्यगण-अर्थात साध्य जाति के देवता ।

[63] इस दोगुने समय में सूर्य ऊपर उदित होकर नीचे अस्त होता है ।

[64] स्वाराज्य-अर्थात स्वर्ग का राज्य ।

द्वादश खण्ड

जो कुछ भी स्थावर-जङ्गम प्राणी हैं,
वे सब-के-सब हैं वाक्रूपी गायत्री[65] ही,
वाक् से प्राणियों की पहचान की जाती,
वाक् से ही चेतावनी दे रक्षा की जाती ।

जैसे पृथ्वी में सब भूत स्थित हैं,
यह जगत स्थित है गायत्री में वैसे,
पृथ्वी गायत्रीरूप, गायत्री पृथ्वीरूप है,
पृथक नहीं है पृथ्वी की सत्ता उससे ।

जैसे पृथ्वी में पञ्चतत्त्व स्थित हैं,
वैसे ही वे स्थित हैं पुरुष-शरीर में,
पृथ्वी सा ही यह शरीर भी गायत्रीरूप,
पाँचप्राण युक्त जीव रहता हृदय में ।

जो यह हृदयकमल है वह भी गायत्री है,
क्योंकि प्राण स्थित हैं इस हृदयकमल में,
प्राण ही माता और प्राण ही पिता हैं,
गायत्रीरूप प्राण मुख्य देवता हैं शरीर में ।

इस प्रकार कही गयी यह गायत्री है,
चार चरणों वाली और छः प्रकार[66] की,
मन्त्रों द्वारा कहा गया इसे ब्रह्मरूप,
उतनी ही महिमा कही गयी है इसकी ।

यह सब स्थावर-जङ्गम जगत,
गायत्रीरूप एक चरण है ब्रह्म का,
पर त्रिपाद निर्विकार पुरुष है श्रेष्ठतर,
शरीररूप पुर वासी जो पुरुष कहाता ।

जो आकाश पुरुष से बाहर है,
वह है ब्रह्मरुपी तीन पादवाला पुरुष ही,
सो जो पुरुष है वह आकाश है,
और जो आकाश है वह है पुरुष ही ।

जो बाहर है वही है भीतर स्थित आकाश,
ओर जो भीतर है वही है बाहर आकाश,
वही आकाश स्थित है पुरुष के हृदय में,
सर्वव्यापक, एकरस सबमे स्थित आकाश ।

पूर्ण है वह हृदय के अन्तर्गत आकाश,
जो है कहीं भी प्रवृत्त न होनेवाला,
पूर्ण और स्थायी सम्पत्ति पाता[67] वो,
जो पुरुष होता उसे ऐसे जाननेवाला ।

---

[65] गायत्री-गायत्री शब्द दो पदों से बना है, गान ओर त्राण, गान का अर्थ गाना है, ओर त्राण का अर्थ रक्षा है (गायन्तं त्रायते इति गायत्री) जो पुरुष गायत्री जपता है उस की रक्षा गायत्री करती है ।

[66] चार चरण-अर्थात ॐ भूर्भुवः स्वः प्रथम, तत् सवितुर्वरेण्यं द्वीतीय, भर्गो देवस्य धीमहि तृतीय और धियो यो नः प्रचोदयात् चौथा चरण । छः प्रकार अर्थात वाणी, प्राणी, पृथ्वी, शरीर, हृदय आर प्राण ।

[67] आकाश त्रिविध है; पहला बाह्याकाश, दूसरा शरीराकाश, तीसरा हृदयाकाश है; जाग्रत अवस्था में बाहर का आकाश जीव को मदद देता है, बिना इस आकाश के इन्द्रियाँ काम नहीं देती हैं यानी पदार्थ के ज्ञान में समर्थ नहीं होती हैं, यह अवस्था दुःख रुप है, स्वप्नावस्था में. शरीराकाश जीव को मदद देता हे याने इसी आकाश के द्वारा पुरुष अनेक सृष्टि को रच करके विलास करता है, यह अवस्था भी दुःखद है, सुषुप्ति अवस्था भे हृदयाकाश द्वारा पुरुष आनन्द को प्राप्त होता है यह अवस्था आनन्ददायिनी है, क्योंकि इसमें अन्तःकरण, मन, बुद्धि ओर अहंकार लय रहता है ।

त्रयोदश खण्ड

इस हृदयकमल के पाँच देवसुषि[68] हैं,
प्राण इसके पूर्वी द्वार का अधिष्ठाता,
वही चक्षु, आदित्य, तेज और अन्नाद्य,[69]
ऐसा उपासक तेजस्वी, बलशाली बनता ।

व्यान अधिष्ठाता दक्षिणी छिद्र का,
वही श्रोत्र है और वही है चन्द्रमा,
और वही श्री एवं यश जिसके लिए,
निश्चित उसका तेज और बल पाना ।

अपान अधिष्ठाता पश्चिमी छिद्र का,
वही वाक् है और वही अग्नि भी,
उसे ही ब्रह्मतेज व अन्नाद्य जो जानता,
वो होता अन्नभोक्ता और ब्रह्मतेजस्वी ।

इसका उत्तरीय छिद्र है वह समान है,
वही मन है और वही है मेघ भी,
और वही यह कीर्ति एवं व्युष्टि[70] है,
इसका ज्ञान देता कीर्ति और वयुष्टि भी ।

इसका जो उर्ध्व छिद्र है वह उदान है,
वही वायु है और वही है आकाश भी,
वही यह ओज एवं महः है, जो जानता,
वो ज्ञाता होता महास्वान्[71] और ओजस्वी ।

वे पाँच ब्रह्मपुरुष[72] स्वर्ग के द्वारपाल,
जो कोई इन पाँच ब्रह्मपुरुषों को जानता,
वीर उत्पन्न होता है उसके कुल में,
और वह स्वर्गलोक को प्राप्त होता ।

इस द्युलोक से परे जो परमज्योति,
सर्वोपरि और सर्वोत्तम लोक में है प्रकाशित,
पुरुष के हृदयकमल और चक्षु आदि में,
वह निश्चय यही है जो हो रही प्रकाशित ।

शरीर को स्पर्श कर और कान मूँदकर,
मनुष्य उष्णता और शब्द को जानता,
ऐसे श्रोता और दृष्टा की उपासना कर,
वो उपासक दर्शनीय व विख्यात होजाता ।

चतुर्दश खण्ड

निश्चय ही यह सारा जगत ब्रह्म है,
उसी से ही यह जगत उत्पन्न होनेवाला,
उसी में लीन होता, उसी में चेष्टा करता,
ऐसा निश्चय कर पुरुष करे उपासना ।

क्योंकि पुरुष निश्चय ही क्रतुमय[73] है,
ब्रह्ममय निश्चय करना चाहिए उसको,
इस लोक में जैसे निश्चय वाला होता,
वैसे ही मरकर उस लोक में होता वो ।

---

[68] देवसुषि-देवताओं के सुषि अर्थात स्वर्गलोक की प्राप्ति के द्वारभूत पाँच छिद्र हैं ।

[69] अन्नाद्य-अर्थात शक्तिदायक ।

[70] वयुष्टि-देह का लावण्य ।

[71] महास्वान्-तेजस्वी ।

[72] अर्थात ये पाँचो ब्रह्मरुपी प्राणादि पुरुष स्वगलोक के दारपाल हैं; जो स्वगंलोक के इन्हीं पाँचो द्वारपालों को हृदयसम्बन्धी ब्रह्मंपुरुष ऊपर कहे हुये प्रकार जानता है, उसके वंश में वीरपुरुष उत्पन्न होते हैं ओर वह स्वंय देंहत्याग के बाद स्वर्गलोक को प्राप्त होता है

[73] क्रतुमय-अर्थात निश्चयात्मक ।

सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान, देदीप्यमान ब्रह्म,
सत्य संकल्य और व्यापक आकाश सा,
सर्वकर्मा, सर्वकाम, सर्वगन्ध, सर्वरस है वो,
अवाकी, सम्भ्रमशून्य होना सिद्ध उसका ।

हृदयकमल के भीतर यह मेरा आत्मा,
सूक्ष्म से भी सूक्ष्म, बड़े से भी बड़ा,
यह मेरा आत्मा वही उपरोक्त ब्रह्म है,
मरकर उसी को पाना निश्चित मेरा ।

जिस उपासक का विश्वास है ऐसा,
कोई संशय नहीं देह रखते हुए भी,
निश्चय ही ब्रह्म को प्राप्त होगा वो,
इस प्रकार कहते हैं शांडिल्य ऋषि ।

पञ्चदश खण्ड

आकाश है इस विराट पुरुष का उदर,
पृथ्वी पाद, चारों कोने दिशा यानी हाथ,
ऊपर का छिद्र यानी ब्रह्मरन्ध्र स्वर्ग है,
इस कोष वसुधान[74] का न होता नाश ।

इस कोष की पूर्व दिशा का नाम है 'जुहू',
इस ओर मुख कर यजमान यज्ञ करता,
दक्षिण दिशा 'सहमाना' नाम की है,
मरने पर जिसमें कर्मफल का भोग होता ।

पश्चिम दिशा 'राज्ञी' नामवाली है,
जिसमें वरुण देवता वास करता,
उत्तर दिशा का नाम 'सुभूता' है,
जिसमें धनेश कुबेर देवता रहता ।

इन चारों दिशाओं का पुत्र[75] वायु है,
क्योंकि इन दिशाओं से वो उत्पन्न होता,
जो उपासक वायु को इस प्रकार जानता,
पुत्र-शोक से वो कभी ग्रसित न होता ।

इसी अपने पुत्र के निमित्त मैं हूँ,
अविनाशी त्रैलोक्यात्मक कोष की शरण,
उसी के निमित्त प्राण की, भूः, भुवः की,
और उसी के निमित्त हूँ स्वः की शरण[76] ।

सम्पूर्ण भूत समुदाय[77] है प्राण से इंगित,
सो मैं हूँ सम्पूर्ण भूत समुदाय की शरण,
पृथ्वी, अन्तरिक्ष, द्युलोक भूः से इंगित,
सो मैं हूँ इन तीनों लोकों की शरण ।

अग्नि, वायु, आदित्य भुवः से इंगित,
सो मैं हूँ अग्नि, वायु, सूर्य की शरण,
ऋग, यजुर्वेद, सामवेद स्वः से इंगित,
सो मैंने कहा मैं हूँ इन वेदों की शरण ।

---

[74] वसुधान-अर्थात इस पृथ्वीलोक के आश्रय का-वसु (पृथ्वी), आधान (आश्रयस्थल) ।

[75] ये मन्त्र पुत्र की दीर्घायु के लिए हैं ।

[76] अर्थात भूर्लोकाधिष्ठाता देवता, भुवर्लोकाधिष्ठाता देवता और स्वर्लोक के अधिष्ठाता देवता के शरण हूँ ।

[77] अर्थात सर्वात्मक प्राण ।

षोडश खण्ड

निश्चय ही यज्ञकर्ता पुरुष[78] ही यज्ञ है,
प्रातःसवन है पहले चौबीस वर्ष उसके,
चौबीस अक्षरों वाला है गायत्री छन्द,
और प्रातःसवन सम्बद्ध[79] है गायत्री से ।

वसुदेवता रहते प्रातःसवन कर्म में,
और प्राणरूप हैं वे वसुदेवता,
प्राण में सम्पूर्ण जगत स्थित है,
सब जीव लिए हुए आश्रय जिसका ।

इस आयु में यदि वो रोगग्रस्त हो,
तो इस प्रकार प्रार्थना करनी चाहिए उसे,
हे प्राणरूप वसुगण ! मेरी यह आयु,
मध्यान्ह यज की आयु[80] तक बढ़ा दो उसे ।

फिर चवालीस वर्ष माध्यन्दिनसवन के,
त्रिष्टुप् छन्द से सम्बन्ध है उनका,
रुद्रगण अनुगत हैं उस माध्यन्दिनसवन के,
प्राणरूप वे रूद्र कारण सबके दुःख का ।

इस आयु में यदि वो रोगग्रस्त हो,
तो इस प्रकार प्रार्थना करनी चाहिए उसे,
हे प्राणरूप रुद्रदेव ! मेरी यह आयु,
सांय-यज की आयु[81] तक बढ़ा दो उसे ।

इसके बाद अड़तालीस वर्ष तृतीय सवन के,
अड़तालीस अक्षरीय जगती छन्द जुड़ा इनसे,
इस तृतीयसवन के अदित्यगण अनुगत हैं,
वे प्राणरूप शब्दादि विषयसमूह ग्रहण करते ।

इस आयु में यदि वो रोगग्रस्त हो,
तो इस प्रकार प्रार्थना करनी चाहिए उसे,
हे प्राणरूप आदित्यगण ! मेरी इस आयु को,
एकीभूत कर दो मेरी पूर्ण आयु से ।

उपरोक्त प्रकार से प्रार्थना करने से,
वह उपासक रोग से मुक्ति पा जाता,
इस विद्या के ज्ञाता ऐतरेय महिदास ने,
एक सौ सोलह वर्ष जीवन जिया था ।

सप्तदश खण्ड

भोजन करता है, न पानी पीता है,
यज्ञ के प्रारम्भ में यज्ञकर्ता,
ये उसकी दीक्षाएँ, प्रथम यज्ञव्रत है,
फिर वो यज्ञ का अनुष्ठान करता ।

---

[78] अब यह मन्त्र स्वयं उपासक की आयु वढ़ाने का यत्न बताता है क्योंकि अगर वह ज़िन्दा न रहा तो पुत्र से कुछ लाभ नहीं हैं ।

[79] प्रातःसवन कर्म में गायत्री छन्दवाले मन्त्र पढ़े जाते हैं। ये गायत्रीछन्दवाले मन्त्र ब्रहमगायत्रीमन्त्र से भिन्न हैं ।

[80] यह आयु चवालीस वर्ष तक रहती है । इस प्रकार प्रार्थना करने से वह यज्ञकर्ता रोगराहित हो जाता है ।

[81] यह आयु अड़तालीस वर्ष तक रहती है । इस प्रकार प्रार्थना करने से वह यज्ञकर्ता रोगराहित हो जाता है ।

जब वो अल्प खाता, पीता, सुखभोग करता,
तव वह मानो उपसदव्रत[82] को करता,
सो समानता यज्ञकर्ता व उपसदव्रतकर्ता में,
दूसरा स्वात्मसम्बन्धि ब्रत ये उपासक का ।

जब यज्ञकर्ता दूसरों को खिलाता, हँसाता,
तब वो स्तुतशस्त्र के तुल्य हो जाता,
दोनों में समानता शब्दयुक्त होने में,
आत्मा के निमित्त ये तीसरा व्रत कहाता ।

तप, दान, आर्जव,[83] अहिंसा, सत्यवचन,
ये सब ही इस व्रत की है दक्षिणा,
क्योंकि धर्म की पुष्टि करने में,
इन सद्गुणों के तुल्य होती दक्षिणा ।

सोष्यति[84] व सवन एक धातु[85] से निकले,
सो यज्ञरूप है जब पुत्र का जन्म होता,
जब माता गभर्वती होती है तब,
लोग कहते हैं कि वह स्त्री है प्रसूता[86] ।

पुत्र जन्म लेता तब वह यज्ञरूप है,
क्योंकि दोनों में है एक सी समानता,
अवभृथ स्नान होता यज्ञसमाप्ति पर,
मृत्यु होने पर भी मृतक स्नान होता ।

सोष्यति और असोष्ट[87] शब्दों में,
समानता होने के कारण पुरुष है यज्ञ,
इनका अर्थ पुत्र और यज्ञ उत्पन्न करना,
सो एकता रखते दोनों यज्ञकर्ता और यज्ञ ।

आंगिरस गौत्रिय घोर नामक ऋषि ने,
देवकीपुत्र कृष्ण को किया यज्ञदर्शन वर्णित,
अन्य विद्याओं को जानने के विषय में,
जिसके कारण हो गया वो तृष्णारहित ।

उन ऋषि ने कहा था अन्त समय में,
जप करना चाहिए इन तीन मन्त्रों का,
हे जीवात्मा ! तू नाशरहित है, एकरस है,
ओर मुख्यप्राण यानी ब्रह्मरूप है तेरा[88] ।

एक ज्योति यज्ञकर्ता के हृदय में प्रकाशित,
दूसरी सूर्य में, तीसरी ज्योति ब्रह्मरूप में,
ये तीन ज्योति, तीन स्थानों में रहती,
तीनों एक हैं, यज्ञकर्ता लाए ऐसा ध्यान में ।

जिनकी इन्द्रियाँ निवृत्त हो गयी विषयों से,
वे उस ब्रह्मज्योति को सब ओर देखते,
जिस ज्योति से सूर्य-चन्द्रादि होते प्रकाशित,
वही तेज परब्रह्म में वे देदीप्यमान देखते ।

---

[82] उपसदव्रत-उपसद वह व्रत है जिसमें ऋत्विज आदिक केवल हुग्घपान करके आनन्द से रहते हैं, इसलिये यज्ञकर्ता में ओर उपसद ब्रत करनेवालों में समानता है, यानी जैसे उपसद ब्रत करनेवाले अल्पाहार करके तृप्त ओर आनन्द से रहते है, वैसे ही यज्ञकर्ता या उपासक भी अल्पाहार करके आनन्द से रहता है ।

[83] आर्जव-अर्थात सरलता ।

[84] सोष्यति-अर्थात प्रसूता; 'यह पुत्र उत्पन्न करेगी ।'

[85] एक धातु-षू से निकले हैं ।

[86] प्रसूता-अर्थात पुत्र उत्पन्न करने वाली । माता जब सन्तान को जन्म देनेवाली होती है, तब दूसरे लोग उसकी माता के विषय में कहते हैं कि 'यह प्रसूता होगी' और जब वह प्रसूता होती है तो 'यह प्रसूता हुई अर्थात पूर्णिका हुई' ऐसा कहते हैं ।

[87] असोष्ट-अर्थात हाँ उत्पन्न किया है ।

[88] इस अर्थ में इस विद्या की स्तुति करनेवाली निम्न दो ऋचाएँ (मन्त्र) हैं, लेकिन वे जप के लिए नहीं हैं ।

अज्ञानरूपी अन्धकार की निवृत्ति करनेवाला,
जो उत्कृष्ट तेज स्थित है सुर्यमण्डल में,
हमारे हृदय में स्थित प्रकाश भी वही है,
वह उत्कृष्टतम ज्योति प्राप्त हुई है हमें ।

अष्टादश खण्ड

'मन ब्रह्म है' ऐसे उपासना करें,
यह अध्यात्मदृष्टि शरीर से सम्बद्ध,
आकाश ब्रह्म है ऐसी उपासना,
यह अधिदैवतदृष्टि देवता से सम्बद्ध ।

अध्यात्मदृष्टि से चार पादों वाले ब्रह्म के,
वाक्, प्राण, चक्षु और श्रोत्र हैं वे पाद,
और अधिदैवतदृष्टि से ब्रह्म के हैं,
अग्नि, वायु, आदित्य और दिशाएँ वे पाद ।

वाक् ही ब्रह्म का चौथा पाद[89] है जो,
अग्निरूप ज्योति से दीप्त होता, तपता,
कीर्ति, यश और ब्रह्मतेज के कारण,
ऐसा ज्ञाता देदीप्यमान होता और तपता ।

प्राण ही ब्रह्म का चौथा पाद है जो,
वायुरूप ज्योति से दीप्त होता, तपता,
कीर्ति, यश और ब्रह्मतेज के कारण,
ऐसा ज्ञाता देदीप्यमान होता और तपता ।

चक्षु ही ब्रह्म का चौथा पाद है जो,
आदित्यरूप ज्योति से दीप्त होता, तपता,
कीर्ति, यश और ब्रह्मतेज के कारण,
ऐसा ज्ञाता देदीप्यमान होता और तपता ।

श्रोत्र ही ब्रह्म का चौथा पाद है जो,
दिशारूप ज्योति से दीप्त होता, तपता,
कीर्ति, यश और ब्रह्मतेज के कारण,
ऐसा ज्ञाता देदीप्यमान होता और तपता ।

एकोनविंश खण्ड

सूर्य ब्रह्म है, यह ऐसा उपदेश,
कहा जा चुका है पहले ही ऊपर,
अब उसकी यहाँ व्याख्या की जाती,
इस जगत की उत्पत्ति के प्रमाण पर ।

नाम रूपवाला जगत उत्पत्ति से पहले,
इस प्रकार से आकारवाला नहीं था,
निराकार से हुआ यह परिमाणवाला,
फिर स्थूल हुआ, फिर अण्डाकार हुआ ।

फिर पड़ा रहा यह जैसा का तैसा,
फूट गया यह एक वर्ष के पश्चात,
दो भाग हो गए तब इस अण्डे के,
एक रजतरूप, सुवर्णरूप दूसरा भाग ।

---

[89] चौथा पाद-देखें माण्डूक्य उपनिषद: इन चार पादोंवाले परब्रह्म परमात्मा के, प्रणव में 'अ', 'उ' और 'म' तीन पाद हैं, और जिस प्रकार मात्राएँ ओंकार से अलग नहीं, वैसे ही परमात्मा के पाद स्वयं उनका ही रूप हैं । इसी प्रकार ओंकार के निराकार स्वरूप की निर्गुण-निराकार चौथे पाद से समानता है । नाम और नामी की यों एकता जानकर, नाम-जप का तत्पर साधक तद्रूप हो जाता है ।

रजतखण्ड पृथ्वी, सुवर्णखण्ड द्युलोक,
जरायु पर्वत, उल्ब[90] मेघों सहित कुहरा,
धमनियाँ नदियाँ, वस्तिगत[91] जल समुद्र,
इस प्रकार उस अण्डे से ये सब रचा ।

तब उस अण्डे से उत्पन्न हुआ सूर्य,
उत्साह और आह्लाद छा गया सब ओर,
इसीलिए उसके उदय और अस्त होने पर,
उत्साह और आह्लाद छा जाता सब ओर ।

जो पूर्व कहे हुए प्रकार को जानता हुआ,
सूर्य की उपासना ब्रह्म-बुद्धि से करता,
सुर्यरूप हो सुनता वो सुन्दर घोष को,
जिससे वो सुखी हो, आनन्द मनाता ।

[90] उल्ब-वह झिल्ली जिसमें गर्भस्थ शिशु लिपटा हुआ रहता है ।

[91] वस्ति-नाभि के नीचे का भाग, पेडू ।

अथ चतुर्थोअध्याय:

प्रथम खण्ड

जानश्रुति नामक राजा था पूर्वकाल में,
उसका परपोता पोत्रायण बड़ा दानी[92] था,
ब्राह्मणों को दान, धर्मशालाएँ बनवाईं,
दीन-दुखियों को भोजन दिया करता था ।

एक समय हँस के रूप में कुछ ऋषि,
पोत्रायण के सामने से उड़ते हुए गये,
एक बोला इसका तेज द्युलोक तक फैला,
उसे स्पर्श न कर, भस्म कर दे न तुझे ।

दूसरा बोला-क्यों इतना सम्मान दे रहा,
क्या तू इसे गाड़ीवाले रैक्व सम समझता,
इस पर पहले वाले हँस ने पूछा उससे,
कैसा है वो गाड़ीवाला रैक्व, मुझे बता ?

कृत नामक पासे से जीतने वाले[93] पुरुष के,
निम्न श्रेणी के पासे अधीन हो जाते जैसे,
उसी प्रकार प्रजा जो कुछ सत्कर्म करती,
वह सब उस रैक्व को प्राप्त हो जाता वैसे ।

और जो कोई उस कर्म को करता,
जिस कर्म को वो रैक्व करता है,
वह भी उसी फल को प्राप्त होता,
जिस फल को रैक्व प्राप्त करता है ।

प्रात: उठते हुए पोत्रायण ने यह सुन,
अपनी स्तुति करनेवाले वंदीजन से कहा,
मेरी स्तुति कर रहा तू रैक्व के समान,
तो रैक्व कौन है उस वंदीजन ने पूछा ?

पोत्रायण ने जो सुना था, कह सुनाया,
रैक्व के धर्म का महत्त्व भी बताया,
कृत नामक पासे सा कैसे रैक्व को,
प्रजा के सत्कर्म का फल मिलता बताया ।

कई नगरों में खोजा वंदीजन ने रैक्व को,
पर रैक्व न पाया उसने किसी नगर में,
तब पोत्रायण ने कहा ब्रह्मवेत्ता को तू खोज,
ब्रह्मवेत्ताओं के योग्य एकान्त जगह में ।

तब उस वंदीजन ने एक छकड़े के नीचे,
खाज खुजलाते हुए देखा रैक्व को,
वो ही रैक्व है, उसके स्वीकार करने पर,
वह लौट आया, बतलाने पोत्रायण को ।

---

[92] ब्रह्म पद का वर्णन करके अब एक आख्यायिका कही गयी हैं, ताकि समझ में आजाये कि श्रद्धा ओर अन्नदान ब्रह्मकी प्राप्ति के कारण हैं ।

[93] द्युत खेलने में कृत नामक चार अंकवाले पासे के जीतने से एक, दो और तीन अंकवाले पासे जो कलियुग द्वापर और त्रेता को इंगित करते हैं, जीत लिये जाते हैं, वैसे ही प्रजा जो कुछ धर्म करती है वह सब रैक्व के धर्म में चला जाता है ।

द्वितीय खण्ड

छः सौ गौएँ, हार और रथ लेकर,
पोत्रायण रैक्व के पास जा बोला उससे,
ये सब उपहार आपके लिए हैं, हे रैक्व !
उपदेश करें, आप किसकी उपासना करते ?

रैक्व ने कहा- 'ऐ शूद्र ! ये सब,
अपनी गौएँ आदि तू रख अपने पास,
तब और उपहार और अपनी पुत्री को ले,
पोत्रायण पुन: गया वहाँ रैक्व के पास ।

वे उपहार, अपनी पुत्री और गाँव देकर,
पोत्रायण ने विनती करी उपदेश देने की,
वे ग्राम जिनमें रैक्व रहा करता था,[94]
वो सब भूमि भी पोत्रायण ने उसे दी ।

राजकन्या के मुख को तीर्थ जान,[95]
वे सब उपहार स्वीकार किए रैक्व ने,
और पोत्रायण की विनती को मान,
उसे उपदेश देते हुए यह कहा उसने ।

तृतीय खण्ड

वायु ही है सबका संग्रहण करनेवाला,
अग्नि बुझकर लीन होजाता वायु में,
वायु में ही होता सूर्य का भी अस्त,[96]
और चन्द्रमा भी अस्त होता वायु में ।

जब प्रलय काल में जल सूखता है,
वह जल वायु में ही लीन हो जाता,
क्योंकि वायु ही अग्नि आदि का आधार,
ऐसे यह अधिदैवत संवर्ग कहा जाता ।

अध्यात्म दृष्टि[97] से प्राण ही संवर्ग है,
क्योंकि जिस समय वह पुरुष सोता,
वाक् इन्द्रिय, चक्षु, श्रोत्र और मन,
प्राण ही इन्हें अपने में लीन कर लेता ।

देवताओं में वायु संवर्ग गुणवाला है,
और इन्द्रियों में संवर्ग गुणवाला प्राण,
ऐसे अधिदैव और अध्यात्म ये दो संवर्ग,
देवताओं में वायु और इन्द्रियों में प्राण ।

एक समय कपि गोत्रवाला शौनक,
और कक्षसेन का पुत्र अभिप्रतारी,
भोजन करने के लिए जब बैठे थे,
भिक्षा माँगने आगया एक ब्रह्मचारी ।

---

[94] जहाँ वह रैक्व रहता था वे रैक्वपर्ण नामक ग्राम महावृषदेश में प्रसिद्ध हैं ।

[95] राजकन्या के मुख को ही विद्यादान का द्वार अर्थात तीर्थ जाना क्योंकि 'ब्रह्मचारी, धन देनेवाला, बुद्धिमान, श्रोत्रिय, प्रिय और जो विद्या के बदले में विद्या का उपदेश करता है-ये छ: तीर्थ हैं ।'

[96] सूर्य अस्त-यों तो सूर्य और चन्द्रमा कभी अस्त नहीं होते लेकिन उनका दर्शन नहीं होता जो गति के कारण होता है और गति वायु के कारण ।

[97] अध्यात्म दृष्टि-अर्थात शरीर की दृष्टि से ।

पर भिक्षा न दी उनमें से किसी ने उसे,
सुनना चाहते थे वे उससे आत्मज्ञान,
तब ब्रह्मचारी ने प्रश्न किया उनसे,
वह कौन देवता है, क्या उसकी पहचान ?

जो अग्नि आदि का और वागादिकों का,
भक्षण करता, भुवनों की रक्षा करता,
मरणधर्मी अज्ञानी जीव बसते उसी में,
पर उसका ही ज्ञान उन्हें नहीं होता ?

जिस प्रजापति के लिए प्रतिदिन,
यह भोजन संस्कार तुम किया करते,
उसी के प्रति दिया नहीं अन्न तुमने,
क्या तुम उसकी उपासना नहीं करते ?

मनन कर इस पर कापेय शौनक ने,
उस ब्रह्मचारी के पास आकर कहा,
जिसे अज्ञानी मनुष्य नहीं जानते हैं,
उसीको देखते, करते उसीकी पूजा ।

सम्पूर्ण स्थावर-जङ्गमरूप प्रजा का आत्मा,
वही सभी देवताओं को उत्पन्न करनेवाला,
वही बड़ा बुद्धिमान और सबसे महान है,
वही अनादिकाल का भी भक्षण करनेवाला ।

स्वयं दूसरों से न खाए जानेवाला वह,
जो अन्न नहीं, वो उसको भी खा जाता,
उसीकी उपासना करते हम, हे ब्रह्मचारी !
ऐसा कह उसने ब्रह्मचारी को दी भिक्षा ।

शौनक ऋषि कहते हैं, हे ब्रह्मचारी !
शरीर के बाहर जो वायु है, वो है भोक्ता,
अग्नि, सूर्य, चन्द्र और जल भोग उसके,[98]
प्रलय में भक्षण कर, फिर उन्हें उगलता ।

इसीलिए अधिदैविक संवर्ग कहते वायु को,
क्योंकि ये चारों को अपने में खींचे रखता,
ऐसे ही शरीर के भीतर प्राण भोक्ता है,
वाणी, चक्षु, मन, श्रोत्र चारों भोग इसका ।

इसीलिए आध्यात्मिक संवर्ग कहते प्राण को,
क्योंकि ये भी इनको अपने में खींचे रखता,
प्राणों के साथ निकल जाते ये भी शरीर से,
जन्म होने पर फिर उद्भव होता है इनका ।

ये उपरोक्त दो भोक्ता और आठ भोग्य,
आत्मा है इन सभी दसों का भोक्ता,
अध्यात्म, अधिदैव और अधिभूतरूप से,
सोई दसों दिशाओं में व्याप्त हो रहा ।

---

[98] वायु (ऑक्सीजन O_2) के बिना अग्नि नहीं जल सकती, वायु ही अग्नि का आधार है । यदि घट में अग्नि या दीपक रख दिया जाय और उसका मुँह ऐसा बंद कर दिया जाये कि उसमें वायु न जा सके तो अग्नि या दीपक बुझ जायेगा यानी उसको वह (वायु) भक्षण कर जायेगा । सूर्य चन्द्र की गति भी वायु के ही कारण होती है यानी वे वायु से चारो ओर ग्रसित हैं । महाप्रलय में जब वायु प्रचंड होता है, तव अग्नि, सूर्य, चन्द्र, ओर जल का कहीं पता नहीं लगता है, वायु उन सभी को भक्षण कर जाता है, और सृष्टि के उत्पाति के समय इन सभी को वह अपने में ले बाहर निकाल देता है ।

वही अन्न है, वही भोग्य और विराट है,
इसकी उपमा वेदों के विराट छन्द[99] से,
इसकी उपमा कृतनामवाले पासे से भी,
एक से चार अंकवाले जिसमें होते पासे ।

कृतनामक पासे के जीते जाने से,[100]
जैसे अन्य पासे भी जीते हुए जाने जाते,
वैसे ही अन्न का दान दिए जाने से,
सब प्रकार के दान दिए जाने जाते ।

ऐसे ही आत्मा को भोग लेने से,
सब का भोग किया हुआ हो जाता,
विराट का अर्थ भोग्य और भोक्ता भी,
इन दोनों को[101] आत्मा ही जाना जाता ।

भोग्य और भोक्ता इन दोनों को,
आत्मा ही हैं, जो इस प्रकार देखता,
वही वास्तव में सच्चा तत्त्वदर्शी है,
वही अन्न का भोक्ता समझा जाता ।

चतुर्थ खण्ड

जबाला के पुत्र सत्यकाम ने कहा,
मैं गुरु के घर जाकर पढना चाहता,
उन्हें मैं अपना क्या गोत्र बताऊँ,
कृपा कर मुझे बतला दो, हे माता !

जबाला ने कहा, मैं नहीं जानती,
हे तात ! तू है जिस गोत्र वाला,
मैं पति के घर एक परिचारिका थी,
अतिथियों की सेवा में समय गुजारा ।

परिचर्या में संलग्न होने के कारण,
गोत्र आदि की ओर ध्यान नहीं था मेरा,
युवा अवस्था में मैंने तुम्हें प्राप्त किया,
तभी परलोकवासी हो गया था पिता तेरा ।

इस कारण मैं अनाथा हो गयी थी,
सो मैं नहीं जानती तू है किस गोत्रवाला,
मेरा नाम जबाला है, तू सत्यकाम,
सो बतला देना तू है सत्यकाम-जाबाला ।

माता से यह सब वृतान्त जानकर,
वो गया हारिद्रुमत गौतम[102] के पास,
कहा मैं आपकी सन्निधि में आया हूँ,
करना चाहता आपके श्रीचरणों में वास ।

उनके पूछने पर सत्यकाम ने बतलाया,
सत्यकाम-जाबाल है उसका नाम,
वह सब भी जो माता ने कहा था,
और कहा नहीं जानता गोत्र का नाम ।

---

[99] विराट छन्द-जो दस अक्षरों से संयुक्त होते हैं ।

[100] कृतनामवाला पासा चार अंक युक्त होता है जिसमें तीन (त्रेता), दो (द्वापर) ओर एक (कलि) अंकवाले पासे अंतर्भूत हैं, और जेसे कृत नामक पासे को जीत लेने से बाकी के तीनों पासे जीते समझे जाते हैं वेसे ही कृतयुग के जीत लेने से वाकी के तीनों युग भी-याने त्रेता, द्वापर और कलि-जीते हुए समझे जाते हैं ।

[101] दोनों को अर्थात भोग्य और भोक्ता दोनों को आत्मा जानना ।

[102] हारिद्रुमत गौतम-गौतम गोत्र के हरिद्रुमान् के पुत्र ऋषि गौतम ।

यह सुन गौतम ऋषि ने कहा उससे,
ऐसा कोई ब्राह्मणेतर[103] कह नहीं सकता,
अत: हे सौम्य ! तू समिधा ले आ,
मैं तेरा उपनयन संस्कार करूँगा ।

तब उसका उपनयन कर उन्होंने,
चार सौ कृश और दुर्बल गौएँ निकाल,
उन सबको सत्यकाम को दिया,
और कहा इनके पीछे जा,[104] ओ जाबाल !

उन्हें ले जाते हुए कहा सत्यकाम ने,
मैं वापस तब तक नहीं लौटूँगा,
जब तक ये गौएँ एक सहस्त्र न हों,
मैं निश्चय ही वन में ही वास करूँगा ।

पञ्चम खण्ड

बहुत वर्षों तक रहा वो वन में,
सम्यक प्रकार से रक्षा करता गौओं की,
श्रद्धा और तप से सिद्ध हुए उससे,
तब ऋषभरूप ले, वायुदेव ने बात करी ।

बोले, हे सौम्य ! हम एक सहस्त्र हो गए,
अब तू हमें आचार्यकुल में पहुँचा दे,
मैं तुझे ब्रह्म का एक पाद बताऊँ,
तो सत्यकाम ने विनती की, वे बता दें ।

वृषभ बोला-पूर्व दिशा एक कला है,
ऐसे ही पश्चिम भी, उत्तर भी, दक्षिण भी,
ये चार कलावाला ब्रह्म का एक पाद,
वह प्रकाश गुणवाला, यही उसका नाम भी ।

ऐसे जानने वाला जो पुरुष ब्रह्म के,
इस पाद की प्रकाशरूप से उपासना करता,
इस लोक में तो प्रसिद्द होता ही वो,
मृत्यु के बाद प्रकाशवान लोक को पाता ।

षष्ठ खण्ड

'अग्नि तुझे दूसरा पाद बतलाएगा,'
यह कहकर वृषभ बैठ गया शान्त हो,
दूसरे दिन गौएँ हाँक ले चला सत्यकाम,
एक जगह गौओं संग रुका सन्ध्या को ।

वे गौएँ जिस जगह एकत्रित हुईं,
अग्नि प्रज्वल्लित करी वहाँ सत्यकाम ने,
अग्नि के सामने पूर्वाभिमुख हो बैठ गया,
वृषभ के वाक्य को लगा याद करने ।

तब अग्नि ने कहा, पृथ्वी एक कला है,
ऐसे ही अन्तरिक्ष, द्युलोक और समुद्र भी,
ये चार कलावाला ब्रह्म का एक पाद,
'अनन्तवान' नामक है उसका पाद यही ।

---

[103] ब्राह्मणेतर- इतना स्पष्ट भाषण कोई ब्राह्मणेतर- अर्थात जो सत्य से विचलित न हो, नहीं कर सकता ।

[104] अर्थात उन गौओं को लेकर वन में जाने के लिए कहा ।

ऐसे जानने वाला जो पुरुष ब्रह्म के,
इस पाद की अनन्तरूप से उपासना करता,
इस लोक में भी वो अनन्त नामवाला होता,
मृत्यु के बाद अनन्तवान लोक वो पाता ।

सप्तम खण्ड

फिर अग्नि ने सत्यकाम से कहा,
हँस कहेगा तुझे तीसरे पाद के बारे में,
अगले दिन फिर सत्यकाम गौएँ ले चला,
सन्ध्या को रुका वो एक जगह में ।

वे गौएँ जिस जगह एकत्रित हुईं,
अग्नि प्रज्वल्लित करी वहाँ सत्यकाम ने,
अग्नि के पश्चिम पूर्वाभिमुख हो सत्यकाम,
अग्नि के वाक्य को लगा स्मरण करने ।

तब हँस ने उतरकर कहा सत्यकाम से,
अग्नि, सूर्य, चन्द्रमा और विद्युत् हैं कला,
ये चार कलावाला ब्रह्म का एक पाद,
'ज्योतिष्मान' नामक, जिसकी हैं ये कला ।

ऐसे जानने वाला जो पुरुष ब्रह्म के,
इस पाद को ज्योतिगुणरूप से उपासता,
इस लोक में भी वो पुरुष प्रतापी होता,
मृत्यु के बाद ज्योतिष्मान लोक को पाता ।

अष्टम खण्ड

फिर उस हँस ने सत्यकाम से कहा,
मदगु[105] बतलाएगा चौथे पाद के बारे में,
अगले दिन फिर सत्यकाम गौएँ ले चला,
सन्ध्या को फिर रुका वो एक जगह में ।

वे गौएँ जिस जगह एकत्रित हुईं,
अग्नि प्रज्वल्लित करी वहाँ सत्यकाम ने,
अग्नि के आगे पूर्वाभिमुख हो सत्यकाम,
हँस के वाक्य को लगा स्मरण करने ।

तब एक मदगु ने समीप उतर कहा उससे,
प्राण, चक्षु, श्रोत्र और मन हैं कला,
ये चार कलावाला ब्रह्म का एक पाद,
'आयतनवान'[106] नामक जिसकी हैं ये कला ।

ऐसे जानने वाला जो पुरुष ब्रह्म का,
यह पाद आयतनवानगुणरूप से उपासता,
इस लोक में भी वो आश्रयदाता होता,
मृत्यु के बाद आश्रयवान लोक को पाता ।

---

[105] मदगु-एक जलचर पक्षी; जल से सम्बद्ध होने से वह प्राण ही है ।

[106] आयतनवान अर्थात आश्रय देनेवाला ।

नवम खण्ड

जब सत्यकाम आचार्यकुल में पहुँचा,
आचार्य बोले, तू ब्रह्मवेत्ता-सा दिख रहा,
किसने ब्रह्मज्ञान का उपदेश दिया तुझको,
मनुष्यों से भिन्न ने,[107] सत्यकाम ने कहा ।

फिर कहा, जैसे ऋषियों से सुना है कि,
आचार्य की दी विद्या ही साधुता दिलाती,
उसी विद्या का आप मुझे उपदेश कीजिए,
आचार्य ने उसे समग्र विद्या प्रदान की ।

दशम खण्ड

उपकोसल नाम से प्रसिद्ध कमल का पुत्र,
सत्यकाम जाबाल के आश्रम में रहता था,
बारह वर्ष आचार्य की अग्नियों की सेवा की,
पर उन्होंने समावर्तन संस्कार[108] न किया ।

आचार्य की पत्नी ने कहा आचार्य से,
यह ब्रह्मचारी बहुत तप्त हो रहा,
अब आप उपदेश दे इसे विदा कर दें,
ताकि अग्नि आप की करे न निन्दा ।

सत्यकाम ने स्त्री की बात सुनकर भी,
उसकी बात पर कोई ध्यान न दिया,
उपकोसल को विदा किया न सत्यकाम ने,
बल्कि आश्रम से बाहर को चल दिया ।

उधर उपकोसल ने मानसिक खेद वश,
खाना-पीना त्याग अनशन कर दिया,
गुरु-माँ के पूछने पर कहा उसने उनसे,
मेरा मन बहुत ही खिन्न हो रहा ।

अनेक कामनायें भरी है मेरे मन में,
एक भी अभी तक पूर्ण न हुई उनमें से,
यही चिन्ता मेरे मन की व्याधि है,
भोजन न करूँगा बिना मुक्त हुए इससे ।

तब तीनों अग्नियों[109] ने एकत्र हो कहा,
तपस्वी और सेवाभावी है ये ब्रह्मचारी,
आओ, ब्रह्मज्ञान का उपदेश करें इसे हम,
अच्छे से सेवा करी है इसने हमारी ।

ऐसा निश्चय कर बोली वे अग्नियाँ,
हे उपकोसल ! सुन, प्राण ही है ब्रह्म,
और 'क' यानी आनन्द भी है ब्रह्म,
और 'ख' यानी आकाश भी है ब्रह्म ।

---

[107] मनुष्यों से भिन्न ने-तात्पर्य यह है कि मनुष्य होने पर तो मुझ श्रीमान के शिष्य को उपदेश देने का साहस कौन मनुष्य कर सकता है ?

[108] समावर्तन संस्कार-शिक्षा की समाप्ति पर गृहस्थ में प्रवेश से पूर्व का संस्कार ।

[109] तीन अग्नियाँ-अर्थात 1. भौम-जो तृण, काष्ठ आदि जलाने से प्रकट होती है; 2. आकाशीय विद्युत् एवं 3. जठराग्नि ।

अग्नियों के उपदेश को सुन उसने कहा,
प्राण ब्रह्म है, यह तो मैं जानता,
क्योंकि प्राण से जीवित रहता पुरुष,
लेकिन 'क' और 'ख' को मैं नहीं जानता ।

'क' सुख या आनन्द का वाच्य क्षणिक है,
और 'ख' आकाश का वाच्य है अचेतन,
इन दोनों की ब्रह्मता कैसे हो सकती,
ब्रह्म तो सदा सर्वदा शुद्ध है और चेतन ।

वे अग्नियाँ बोलीं, जो 'क' है सोई 'ख',
'ख' का अर्थ व्यापक, 'क' है आनन्द,
सो जो व्यापक और सुखरूप भी हो,
वह निश्चय ही ब्रह्म है, आनन्दकन्द ।

यहाँ भूताकाश तात्पर्य नहीं अचेतन से,
क्योंकि वो व्यापक तो है, सुखरूप नहीं,
ऐसे ही सुख से तात्पर्य है हृदयानन्द,
यहाँ सुख का तात्पर्य विषयसुख नहीं ।

इसलिए 'क' से मतलब हृदयानन्द से है,
और 'ख' शब्द का मतलब व्यापक से,
सो हृदयाकाश ब्रह्मानन्द रूप है,
वो तुम्हारा ही स्वरूप, भिन्न नहीं तुमसे ।

एकादश खण्ड

तब गार्हपत्य अग्नि ने कहा मेंरे शरीर हैं,
पृथ्वी, अग्नि, अन्न और आदित्य,
आदित्य के बीच जो पुरुष दिखाई देता,
वह मैं ही हूँ, मैं ही हूँ आदित्य ।

जो ऐसे जान उपासना करता इसकी,[110]
पापमुक्त होता और अग्निलोकवान होता,
पुत्र-पौत्रोंवाला होता, दीर्घायु प्राप्त करता,
लोक-परलोक में उसका हमसे पालन होता ।

द्वादश खण्ड

तब दक्षिणाग्नि ने कहा मेरे शरीर हैं,
जल, दिशा, नक्षत्र और चन्द्रमा,
चन्द्रमा में जो यह पुरुष दिखाई देता,
वह मैं ही हूँ, मैं ही हूँ चन्द्रमा ।

जो ऐसे जान उपासना करता इसकी,
पापरहित होता, उज्ज्वल कीर्ति पाता,
सौ वर्ष जीता, पुत्र-पौत्र भी दीर्घायु होते,
दोनों लोकों में हमसे संरक्षण पाता ।

[110] इसकी अर्थात चतुर्धा विभक्त अग्नि की ।

त्रयोदश खण्ड

तब आहवनीयाग्नि[111] बोली मेरे शरीर हैं,
प्राण, आकाश, द्युलोक और विद्युत्,
विद्युत में जो यह पुरुष दिखाई देता,
वह मैं ही हूँ, मैं ही हूँ विद्युत ।

जो ऐसे जान उपासना करता इसकी,
पाप नष्ट करता, उज्ज्वल जीवन जीता,
पूर्ण आयु पाता, पुत्र-पौत्र क्षय नहीं होते,
लोक-परलोक में हमारे द्वारा पाला जाता ।

चतुर्दश खण्ड

यों उपदेश कर उन अग्नियों ने कहा,
यह अग्नि और ब्रह्मविद्या कही हमने,
आचार्य इन्हें पाने का बताएँगे तुझे मार्ग,
ऐसा कह उपरामता पायी अग्नियों ने ।

आचार्य ने आकर उसका मुख देखकर कहा,
तेरा मुख जान पड़ता ब्रह्मवेत्ता के समान,
किसने तुझे इस सबका उपदेश किया,
किस से पाया तूने यह उत्तम ब्रह्मज्ञान ?

उन अग्नियों की ओर देख आचार्य ने कहा,
क्या इन्होने तुझे इसका उपदेश किया,
उपकोसल ने कहा इनके सिवा कौन मनुष्य,
आपके शिष्य को कुछ कह सकता था ?

पर हे भगवन ! अग्नियों ने मेरे प्रति,
दृष्टान्तरूप से ही किया है उपदेश,
स्पष्ट रूप से उपदेश की विनती सुन,
आचार्य उसके प्रति करने लगे उपदेश ।

आचार्य बोले अग्नियों ने तेरे प्रति,
पृथ्वी आदि लोकों का ही किया उपदेश,
जिसके जानने से पाप छू नहीं सकता,
उस ब्रह्मविद्या का मैं करता हूँ उपदेश ।

पञ्चदश खण्ड

यह जो नेत्र में पुरुष दिखायी देता है,
यही आत्मा, अमृत, अभय और ब्रह्म,
उसमें यदि घृत या जल डालें तो,
इधर-उधर हो, पलकों में ही जाता रम ।

जल से अछूता रहता ज्यों कमल-पत्र,
नेत्र भी अछूते रहते घृत या जल से,
जिसके रहने के स्थान का इतना महात्म्य,
उसका महात्म्य कोई जान सकता कैसे ?

इस उपरोक्त पुरुष को संयद्वाम कहते,
क्योंकि यही सभी सेवनीय वस्तुएँ पाता,
जो मनुष्य जानता इसे इस प्रकार से,
वह भी सभी सेवनीय वस्तुओं को पाता ।

[111] आहवनीय अग्नि पूर्व की आहुति वाली अग्नि ।

यही[112] वामनी है, हे उपकोसल ! क्योंकि,
यही सभी वामों[113] का वहन करता,
जो मनुष्य जानता इसे इस प्रकार से,
वह भी सभी वामों का वहन करता ।

और यही भामनी भी है क्योंकि,
सम्पूर्ण लोकों में यही भासमान[114] होता,
जो मनुष्य जानता इसे इस प्रकार से,
वह भी सभी लोकों में भासमान होता ।

ब्रह्मवेत्ता की मृत्यु हो जाने पर,
उसका शवकर्म करें या न करें,
ना उसे कोई लाभ या हानि होती,
ज्ञानियों को कोई अन्तर नहीं इससे ।

ज्ञानी ब्रह्मवित् जब मरता तो पहले,
ज्योति अभिमानी देवता को होता प्राप्त,
दिवसाभिमानी, शुक्लाभिमानी देवता को,
फिर उत्तरायणी छः मासों को होता प्राप्त ।

मासों से संवत्सर, संवत्सर से आदित्य,
आदित्य से चन्द्रमा, विद्युत् को उससे,
वहाँ से अमानव पुरुष ब्रह्मलोक ले जाता,
कोई लौटता नहीं फिर इस ब्रह्ममार्ग से ।

षोडश खण्ड

यह वायु जो कि चलता है, यज्ञ है,
यज्ञरूप यह सारे जग को शुद्ध करता,
मन और वाणी इसके दो मार्ग हैं,
वायु है इस यज्ञ का अधिष्ठाता देवता ।

उनमें से एक मार्ग का मुख्य ऋत्विज,
मौन हो मन में ऋचा का ध्यान करता,
होता, अध्वर्यु, उद्गाता ऋत्विजों द्वारा,
वाणी से ऋचा का पाठ किया जाता ।

यदि प्रातरनुवाक[115] के आरम्भ हो जाने पर,
परिधानीया-ऋचा से पूर्व ब्रह्मा[116] बोल उठता,
तो मात्र एक मार्ग का ही संस्कार करता वो,
और इस कारण दूसरा मार्ग नष्ट हो रहता ।

एक पाँव से चलने वाला पुरुष,
या एक पहिये से चलने वाला रथ,
जिस प्रकार से प्राप्त होता नाश को,
ऐसे ही नष्ट हो जाता वो ऐसा यज्ञ ।

प्रातरनुवाक और परिधानीया के बीच,
यदि मुख्य ऋत्विज नहीं बोलता,
तो दोनों ही मार्ग के संस्कार होते,
तब कोई भी मार्ग नष्ट नहीं होता ।

---

[112] यही-अर्थात उपरोक्त पुरुष या आत्मा ।

[113] सभी वामों का-अर्थात सभी पुण्य-कर्मों का ।

[114] अर्थात सूर्य, अग्नि और चन्द्रमा के रूप में यही आत्मा प्रकाशित है और इसे ऐसे जाननेवाला भी वैसे ही प्रकाशवान होता है ।

[115] प्रातरनुवाक-अर्थात ऋग्वेद के अन्तर्गत वह अनुवाक जो प्रातःसवन नामक कर्म में पढ़ा जाता है ।

[116] ब्रह्मा-अर्थात मुख्य ऋत्विज जो ऋचा का मन में ध्यान करता है ।

दोनों पैरों से चलने वाला पुरुष,
या दोनों पहियों से चलने वाला रथ,
जिस प्रकार वे स्थित रह श्रेष्ठ होते हैं,
वैसे ही श्रेष्ठ होते वे यजमान और यज्ञ ।

सप्तदश खण्ड

लोकों से सारवस्तु ग्रहण करने को,
प्रजापति ने किया ध्यानरूपी तप को,
पृथ्वी से अग्निरूपी, अन्तरिक्ष से वायुरूपी,
स्वर्ग से निकाला आदित्यरूपी रस को ।

फिर अग्नि, वायु और आदित्य देवों को,
ध्यानरूपी तप से तपाया प्रजापति ने,
अग्नि से ऋग्वेदरूपी, वायु से यजुर्वेदरूपी,
आदित्य से सामवेदरूपी रस निकाला उसने ।

फिर तप किया त्रयीविद्या को लक्ष्य कर,
उन तप्त विद्याओं से रस निकाले उसने,
ऋक् श्रुतियों से भूः, यजु श्रुतियों से भुवः,
और सामवेद से स्व: को निकाला उसने ।

यदि ऋग्वेद की ऋचाओं की ओर से,
किसी तरह की हानि पहुँचे यज्ञ में,
गार्हपत्याग्नि में 'भू: स्वाहा' कह आहुति,
क्षति पूर्ति करता ऋक्-ऋचाओं के रस से ।

यजुः और साम सम्बन्धी क्षति दूर होती,
दक्षिणाग्नि व आहवनीयाग्नि में आहुति से,
क्रमश: भुव: स्वाहा और स्व: स्वाहा कहकर,
यजुः और साम श्रुतियों से जुड़ी ऋचाओं से ।

जैसे सुहागे से सुवर्ण, सुवर्ण से चाँदी,
चाँदी से रांगा, रांगा से सीसा जोड़ा जाता,
सीसा से लौहा और लौहा से काष्ठ को,
या चमड़े के बन्धन से काष्ठ जोड़ा जाता ।

ऐसे ही इन लोक, देवता और त्रयीविद्या के,
रससंज्ञक ओज से यज्ञक्षति पूर्ति करते,
ऐसे जाननेवाला ब्रह्मा होते जिस यज्ञ में,
उसका फलदायी होना वे निश्चित करते ।

जहाँ इस प्रकार जाननेवाला ब्रह्मा होता,
वह यज्ञ उत्तम लोक को प्रदान करता,
जहाँ कहीं ऋत्विज आदि से हानि होती,
ब्रह्मा यज्ञकर्ता की वहाँ पहुँच रक्षा करता ।

व्याहृति आदिकों का ज्ञाता यज्ञ की,
और ऋत्विजों की रक्षा वैसे ही करता,
जैसे घोड़ी युद्ध में अपने सवार की,
ऐसा व्यक्ति ही बनाना चाहिए ब्रह्मा ।

अथ पञ्चमोअध्याय:

प्रथम खण्ड

जानता है जो ज्येष्ठ और श्रेष्ठ को,
वह ज्येष्ठ और श्रेष्ठ हो जाता,
कौन है वो ज्येष्ठ और श्रेष्ठ तो,
सिद्ध है प्राण की ज्येष्ठता, श्रेष्ठता[117] ।

जो कोई वसिष्ठ[118] को जानता है,
वह स्वजातियों में वसिष्ठ होता,
तो कौन है वो इस प्रकार वसिष्ठ,
निश्चय ही यह वाक् वसिष्ठ होता ।

जो कोई प्रतिष्ठा को जानता है,
वो लोक परलोक में प्रतिष्ठित होता,
चक्षु ही प्रतिष्ठा है, क्योंकि देखकर ही,
मनुष्य समता-दृढ़ता से खड़ा होता ।

जो कोई सम्पद्[119] को जानता है,
उसे सभी भोग सम्यकता से प्राप्त होते,
श्रोत्र ही सम्पद् है, क्योंकि सुनकर ही,
मनुष्य वेदार्थ जान कर्मजन्य भोग भोगते ।

जो कोई आयतन[120] को जानता है,
वह स्वजातियों का आयतन होता,
मन ही आयतन है क्योंकि उसके द्वारा,
सभी विषयों और ज्ञान का ग्रहण होता ।

एक बार प्राण (इन्द्रियाँ) श्रेष्ठता को ले,
'मैं श्रेष्ठ हूँ' कह विवाद करने लगे,
विवाद सुलझता न देखकर वे सब,
प्रजापति से इसका निर्णय माँगने लगे ।

विवाद सुलझाने को प्रजापति ने कहा,
इसका निर्णय होगा इस प्रकार,
वही श्रेष्ठ होगा जिसके निकल जाने पर,
शरीर दिखे प्राणहीन और बेकार ।

तब उस वाक् ने उत्क्रमण किया,
शरीर से बाहर रहा एक वर्ष तक,
लौटकर पूछा किस तरह जीवित रहे,
मेरे बिना हे शरीर ! तुम अब तक ?

गूँगे लोग बिना बोले जैसे जीते,
प्राण से प्राणन-क्रिया करते रहते,
नेत्र से देखते और कान से सुनते,
मन से चिन्तन करते जीवित रहते ।

---

[117] प्राण की ज्येष्ठता और श्रेष्ठता-सब इन्द्रियों में प्राण ही ज्येष्ठ हैं, क्योंकि जब शिशु गर्भ में आता है तब उसके पिण्ड में प्रथम प्राण ही का आगमन होता है, और फिर वह वाक आदि इन्द्रियों के आने के लिये उनके गोलकों में प्रवेश करके उन गोलकों को फैलाता और बढ़ाता है जिससे उनके शरीर की वृद्धि और चक्षु आदि इन्द्रियों की स्थिति होती है, इसी कारण प्राण ज्येष्ठ और श्रेष्ठ है ।

[118] वसिष्ठ-जो वसिष्ट यानी धनाढ्य को जानता है, यानी उपासता है, वह भी वसिष्ठ यानी धनाढ्य हो जाता है, वाक् इन्द्रिय वसिष्ठ है, अर्थात जो वाणीरुप प्राण की उपासना करता है, वह श्रेष्ठ वक्ता ओर धनवान होता है, और सभा में अपनी ज्ञातियों में सबको पराजय करके उत्तम धन प्राप्त करता है ।

[119] सम्पद्-अर्थात सम्पत्ति, वैभव, सफलता ।

[120] आयतन-अर्थात आश्रय ।

ऐसे ही चक्षु, श्रोत्र और मन ने भी,
एक वर्ष शरीर से बाहर निवास किया,
लौटकर पूछने पर अंधे, बहरे, बालक सा,
शरीर जीवित रहा, उन्हें उत्तर दिया ।

फिर प्राण[121] ने उत्क्रमण की इच्छा की,
तो अन्य प्राण[122] भी साथ ही उखड़ने लगे,
वैसे ही जैसे पैर बाँधने वाली मेखों को,
कोई अच्छा घोड़ा खींचकर उखाड़ने लगे ।

तब वे वाक् आदि सब कहने लगे,
हे भगवन्! आप ही श्रेष्ठ हैं हम सबसे,
आप इस शरीर का उत्क्रमण न करें,
हमारा अस्तित्व है आपके अस्तित्व से ।

फिर वाक् ने कहा उस प्राण से,
'मैं जो वसिष्ठ हूँ सो तुम्हीं वसिष्ठ हो,'
ऐसे ही चक्षु, श्रोत्र और मन ने कहा,
जो हम हैं वो वास्तव में तुम्हीं हो ।

लोक में समस्त इन्द्रियों को,
वाक्, चक्षु, श्रोत्र या मन न कहते,
लेकिन ये सब-के-सब प्राण ही है,
विज्ञ इन्हें बस 'प्राण' ऐसा ही कहते ।

द्वितीय खण्ड

तब प्राण ने पूछा, मेरा अन्न क्या होगा,
वागादि बोले जो अन्न है सब जीवों[123] का,
सो यह सब 'अन'[124] (प्राण) का अन्न है,
ऐसे ज्ञाता को कुछ अनन्न[125] न होता ।

फिर उसने पूछा, मेरा वस्त्र क्या होगा,
तब वागादि ने कहा वह 'जल' होगा,
सो भोजन करने से पहले व बाद में,
पुरुष जल से आच्छादन करते इसका ।

उस इस प्राणदर्शन को सत्यकाम जाबाल ने,
गोश्रुति नामक वैयाघ्रपद्य ऋषि से कहा,
सूखे काष्ट के ठूँठ में भी पत्ते उग आते,
यदि प्राणविद्या कहे उसे कोई उसका ज्ञाता ।

जो विद्वान महत्त्व प्राप्त करना चाहे,
दीक्षित हो वो अमावस्या की रात्रि को,
संयमित, पवित्र, तपमय जीवन जीते हुए,
विचारे प्राण की ज्येष्ठता और श्रेष्ठता को ।

पूर्णमासी को सर्वोषध को एकत्र कर,
कूटकर दही और शहद मिलाए उसमें,
गूलर की लकड़ी से मन्थन कर उसका,
घी सहित आहुति दे उसकी हवन में ।

---

[121] प्राण-अर्थात मुख्य प्राण ।
[122] अन्य प्राण अर्थात वाक् आदि सभी इन्द्रियाँ ।
[123] अर्थात कुत्ते से लेकर पक्षियों तक ।
[124] अन-यह प्राण का प्रत्यक्ष नाम है ।
[125] अनन्न-अर्थात अभक्षणीय ।

'ज्येष्ठाय, श्रेष्ठाय स्वाहा' कहते,
आहुति देते विधिपूर्वक हवन करे,
स्त्रुव में लगे अवशिष्ट घी को वो,
धारा में बाँध मन्थ[126] में गिरा दे ।

फिर 'वासिष्ठाय स्वाहा' मन्त्र कहते,
अग्नि में घृत-आहुति को डाले,
स्त्रुव में लगे अवशिष्ट घी को वो,
धारावत उस मन्थ में गिरा दे ।

ऐसे ही 'प्रतिष्ठाय स्वाहा' मन्त्र कहते,
'संपदे स्वाहा' व 'आयतनाय स्वाहा' कहते,
घृत-आहुति दे क्रमश: अग्नि में वो,
और मन्थ में घृत का स्राव रहे डालते ।

फिर कुछ दूर हट, मन्थ अञ्जलि में ले,
जप करे 'अमो नामासि' आदि मन्त्र का,
हे मन्थ ! तू 'अम'[127] नामवाला है, क्योंकि,
प्राणभूत तेरे साथ अवस्थित ये जग सारा ।

वह तू ज्येष्ठ है और श्रेष्ठ है,
राजा है और अधिपति है सबका,
वह तू मुझे ज्येष्ठत् और श्रेष्ठत्व,
राज्य और आधिपत्य प्राप्त करा[128] ।

तदनन्तर एक-एक पाद पढ़कर वो,
भक्षण करे मन्थ से एक-एक ग्रास का,
'तत्सवितुर्वृणीमहे' प्रथम पाद पढकर,
भक्षण करे मन्थ से प्रथम ग्रास का ।

ऐसे ही 'वयं देवस्य भोजनम्' पढ़ करे,
फिर 'श्रेष्ठम् सर्वधातमम्' पढ़ करे भक्षण,
'तुरं भगस्य धीमहि' पढ़, कटोरा धोकर,
तब समस्त मन्थलेप का करे भक्षण ।

समाहितचित्त, अग्नि की ओर मस्तक कर,
पूर्व-दिशा में मृगचर्म या पृथ्वी पर सोए,
ऐसे सोया यजमान स्त्री को देखे स्वप्न में,
तो निश्चय लक्ष्मी की कृपा प्राप्त हुई जाने ।

तृतीय खण्ड

आरुणि का पुत्र श्वेतकेतु[129] जब,
आया पंचालदेश की लोगों की सभा में,
जीवल के पुत्र प्रवाहण[130] ने उससे पूछा,
क्या शिक्षित किया है तुझे तेरे पिता ने ?

---

[126] मन्थ-पानी वा दूध में घुला सत्तू; यहाँ यह कुटी हुई सर्वोषध का दही और शहद के साथ मिश्रण के लिए प्रयुक्त किया गया है ।

[127] 'अम' यह प्राण का ही नाम है और अन्न के कारण ही प्राण शरीर में प्राणन क्रिया करता है; इसी से मन्थ द्रव्य प्राण का अन्न होने के कारण 'अमो नामासि' इत्यादि मन्त्र द्वारा प्राणरूप से स्तुत होता है ।

[128] अर्थात प्राण के समान मैं भी यह सम्पूर्ण जगतस्वरूप हो जाऊँ; सम्पूर्ण ऐश्वर्य को प्राप्त होऊँ ।

[129] ऋषि अरुण का पुत्र आरुणि (ऋषि उद्दालक) और उसका पुत्र श्वेतकेतु ।

[130] जीवल नामक राजा का पुत्र-राजा प्रवाहण-जैवलि प्रवाहण ।

उसके हाँ कहने पर प्रवाहण ने पूछा,
इस लोक से प्रजा कहाँ पर जाती,
क्या तू जानता है कि वह फिर,
इस लोक में किस प्रकार से आती ?

श्वेतकेतु के अनभिज्ञता प्रकट करने पर,
जैवलि प्रवाहण ने फिर उससे पूछा,
क्या तुझे मालूम है वो स्थान जहाँ,
देव और पितृयान मार्ग विभाजित होता ।

न कहने पर, श्वेतकेतु से पूछा उसने,
ये पितृलोक क्यों नहीं भरता,
पाँचवी आहुति के हवन करने पर,
कैसे 'आप'[131] पुरुष संज्ञा को पा लेता ?

श्वेतकेतु इनके उत्तर दे न सका तो,
प्रवाहण ने कहा-कैसी शिक्षा पायी है तूने,
श्वेतकेतु ने पिता के पास लौटकर कहा,
समुचित शिक्षा नहीं दी मुझे आपने ।

उस राजपुत्र ने पाँच प्रश्न किए मुझसे,
एक का भी विवेचन मैं कर न सका,
पिता ने कहा ये प्रश्न जो तुमने बताए,
इनका उत्तर तो मुझे भी नहीं पता ।

यदि ज्ञान होता मुझे इन प्रश्नों का,
तो समावर्तन पर क्यों न कहता तुझसे,
तब उद्दालक ऋषि ने पंचालदेश पहुँच,
विद्यारूप वाणी सुननी चाही प्रवाहण से ।

ऋषि की यह माँग सुन राजा प्रवाहण,
दुखी तो हुआ, पर फिर यह सोचा उसने,
खण्डन नहीं करना चाहिए ब्राह्मण का,
सो एक वर्ष उन्हें रुकने को कहा उसने ।

फिर कहा, सर्वविद्या सम्पन्न होने पर भी,
जिस प्रकार मुझसे यह विद्या चाही आपने,
यह विद्या ब्राह्मणों के पास नहीं थी पहले,
क्षत्रिय-वंशजों को ही इसे दिया क्षत्रियों ने ।

क्षत्रियों में परम्परागत चली आई यह विद्या,
तथापि मैं तुम्हारे प्रति उपदेश करूँगा इसका,
तुमसे यह विद्या ब्राह्मणों को जाएगी,
अत: मैंने जो कुछ कहा उसे क्षमा करना ।

चतुर्थ खण्ड

(पहले पाँचवे प्रश्न का अर्थात 'आप' किस प्रकार पुरुष संज्ञा को पाता है इसका उत्तर दिया जा रहा है)

प्रवाहण ने कहा, अग्नि का उपासक,
हवन करते समय ऐसा चिन्तन करता,
यह आहवनीय अग्नि स्वर्गरूप अग्नि है,
सूर्य ईंधन है इसका, दिन इसकी ज्वाला ।

नक्षत्र हैं इससे निकलती चिनगारियाँ,
और इस अग्नि का अंगार है चन्द्रमा,
यों इसका स्वर्ग से तादात्म्यता करके,
अग्नि का उपासक अपना शरीर छोड़ता ।

[131] आप-अर्थात सोमघृतादि रस ।

उसी आहवनीय अग्नि की आहुतियाँ,
ले जाती उस उपासक को स्वर्गलोक में,
स्वकर्मानुसार उत्तम सुखों को भोगकर,
तब आता वह उपासक चन्द्रलोक में ।

चन्द्रलोक से जल द्वारा पृथ्वी पर आता,
अन्न द्वारा गर्भ में वो प्रवेश करता,
जन्म लेता, अग्निहोत्र आदि कर्म करता,
यह लोक-प्राप्ति का चक्र यों चलता रहता ।

स्वर्गाख्य[132] अग्नि को स्मरण करता हुआ,
उपासक जब घृतादि द्रव्य की देता आहुति,
सूक्ष्म परिमाण को प्राप्त हुई वह वस्तु,
सूर्य किरणों द्वारा स्वर्ग को प्राप्त होती ।

जब अग्निहोत्रकर्ता त्यागता शरीर को,
और अग्नि में उसका दाह किया जाता,
अग्निदेव स्वर्ग को पहुँचाता उस पुरुष को,
जहाँ वह पूर्वकृत कर्मों का फल भोगता ।

और जब कर्मफल क्षय होने को होता,
वो श्रद्धारुप सूक्ष्म जल को हवन करता,
उन्हीं आहुतियों के साथ तन्मय हुआ,
वो आप भी हवन किया हुआ सा होता ।

श्रद्धा शब्दवाच्य जल के हवन से,
जो द्युलोकरूप अग्नि में किया जाता,
सोम राजा होता है उसका फल,[133]
दीप्तिमान चन्द्रमा[134] यह परिणाम होता ।

पञ्चम खण्ड

हे गोतम ![135] आग्नि का उपासक दूसरी बार,
अग्नि को मेघदेवरुपाग्नि कल्पना करता,
ईंधन वायु, धूम बादल, ज्वाला बिजली,
अंगार तड़ित और चिनगारियाँ मेघगर्जना ।

ऐसे पर्जन्यरूप[136] अग्नि में इन्द्रियाँ,
सोमलोकस्थ जीवात्मा का हवन करतीं,
इस आहुति से वर्षारूप फल उत्पन्न होता,
हवनकर्ता की इस प्रकार की धारणा रहती ।

षष्ठ खण्ड

पृथ्वी ही अग्नि है, संवत्सर ईंधन है,
धूम आकाश है, अंगार है पूर्वादि दिशा,
इसकी चिनगारियां ईशानादिक चारों कोण,
इसमें वर्षा की आहुति से अन्न होता ।

---

[132] स्वर्गाख्य-अर्थात स्वर्ग की अग्नि ।

[133] अर्थात चन्द्रलोक के भोगों को भोगने के लिए वह चन्द्रलोक में उत्पन्न होता है ।

[134] इस हवन के करनेवाले यजमान आहुति की भावना से भावित आहुतिरूप कर्म से आकर्षित हो श्रद्धारूप जल से पूर्ण हो द्युलोक में प्रवेश कर चन्द्रमारूप हो जाते हैं, क्योंकि उसके लिए उन्होंने अग्निहोत्र किया था ।

[135] हे गोतम-अर्थात गोतम कुल के ऋषि-उद्दालक ।

[136] पर्जन्य-अर्थात वृष्टि के जो साधन हैं उनका अभिमानी देवताविशेष ।

सप्तम खण्ड

पुरुष ही अग्नि है, वाक् ईंधन है,
प्राण ही धूम, इसकी जिह्वा ज्वाला,
चक्षु अंगार हैं, श्रोत्र चिनगारियां हैं,
इसमें अन्न की आहुति से शुक्र होता ।

अष्टम खण्ड

हे गौतम ! यह स्त्री ही अग्नि है,
उसका उपस्थ ही समिध्[137] है उसका,
उपमंत्रण धूम है, जननांग ज्वाला है,
सम्बन्ध अंगार और आनन्द चिनगारियाँ ।

जब ऐसी इस स्त्रीरूप अग्नि में,
देवगण शुक्र का हवन करते,
उस इस प्रकार आहुति देकर,
गर्भरूप फल को उत्पन्न करते ।

हे गोतम ! श्रद्धा शब्द का वाच्य जल,[138]
स्वर्गलोकादि उक्त अग्नियों में हवन करके,
सोम, वर्षा, अन्न, रेत आदि परिणाम पा,
गर्भरूप परिणाम पाता स्त्रीरूप अग्नि में ।

नवम खण्ड

ऐसे पाँचवी आहुति[139] के दिए जाने पर,
यह 'आप' पुरुष शब्दवाची हो जाता,
जरायु से आवृत गर्भ में रहता कुछ माह,
भीतर ही शयन कर फिर उत्पन्न होता ।

उत्पन्न हो आयु पर्यन्त जीवित रह,
फिर जब उस जीव की मृत्यु होती,
अग्नि के प्रति ही ले जाते हैं उसे,
जहाँ से वो आया, उसकी हुई उत्पत्ति ।

दशम खण्ड

(इस लोक से प्रजा कहाँ जाती है और परलोक क्यों नहीं भरता, इन प्रश्नों का उत्तर)

अग्निहोत्र कर्म का कर्ता गृहस्थ पुरुष,
और जो वन में तप, उपासना करते,
नहीं जानते यदि इसका यथार्थ स्वरूप,
तो जन्म-मरण को ही प्राप्त होते रहते ।

पंचाग्नि विद्या का यथार्थ रुप जाननेवाले,
हिरण्यगर्भ की उपासना सहित यज्ञ करते,
उपासनाकर्मबल से प्राप्त होते ब्रह्मलोक को,
और ब्रह्मविद्या पा जन्म-मरण रहित होते ।

---

[137] समिध्-अर्थात ईंधन; यज्ञ के लिए समिधा ।

[138] आहुति को जल कहने का कारण यह है कि आहुति में जलभाग यानी घृत विशेष रहता है, और अन्न यानी पार्थिव और अग्नि भाग न्यून रहता है, इस कारण इसको जल का पारिणाम कहते हैं ।

[139] पाँचवी आहुति-पहली आहुति श्रद्धारुप सूक्ष्म जल की, दूसरी सोमलोकस्थ जीवात्मा की, तीसरी वर्षा की, चौथी अन्न की और पाँचवी शुक्र की जिसके बाद 'आप' अर्थात सोमघृतादि रस पुरुष संज्ञा को प्राप्त होता है ।

इसी प्रकार जो वानप्रस्थ ओर संन्यासी,
श्रद्धा, तपपूर्वक हिरण्यगर्भ को उपासते,
वे भी ऐसे ही ब्रह्मलोक को प्राप्त होकर,
ब्रह्मा से ब्रह्मविद्या पाकर मुक्त होते ।

वे इस प्रकार उपासना करने वाले,
उपासना के बल पाते अर्चि मार्ग[140] को,
प्रकाश से दिन, दिन से शुक्लपक्ष,
शुक्लपक्ष से उत्तरायण के छः महीनों को ।

उन महीनों से वे प्राप्त होते संवत्सर को,
संवत्सर से आदित्य, उससे चन्द्रमा को,
वहाँ से विद्युत् को प्राप्त होते वो जहाँ से,
एक अमानव पुरुष ले जाता ब्रह्म को[141] ।

जो गृहस्थ इष्टापुर्त दानादि कर्म[142] करते,
पर वे अग्नि विद्या को नहीं जानते,
मरकर धूमाभिमानी देवता लोक[143] पाते वे,
जहाँ से रात्राभिमानी देवता के लोक जाते ।

रात्रिलोक से जाते कृष्णपक्षाभिमानी लोक,
वहाँ से सूर्य के दक्षिणायनी मार्ग को,
संवत्सर को प्राप्त नहीं होते हैं ये लोग,
पहला देवयान, पितृयानमार्ग कहते इसको ।

दक्षिणायन के महीनों से जाते पितृलोक,
वहाँ से आकाश, आकाश से चन्द्रमा को,
यह वही सोम ब्राह्मणों का राजा चन्द्रमा है,
जहाँ वे भोगरूप से प्राप्त होते देवों को ।

कर्मों का क्षय होने तक वहाँ रहकर,
वे फिर इसी मार्ग से वैसे ही लौटते,
चन्द्रलोक से आकाश, वायु, फिर धूम,
फिर अभ्र से मेघरूप होकर वे बरसते ।

यों बरसे हुए वे जीव इस लोक में,
धान, जौ, ओषधि आदि हो उत्पन्न होते,
पुरुष के द्वारा उस अन्न भक्षण से,
तद्रूप हो, वे जीव फिर जन्म लेते ।

उनमें जो अच्छे आचरण वाले होते हैं,
वे शीघ्र ही उत्तम योनि[144] को प्राप्त होते,
और जो अशुभ आचरण वाले होते हैं,
वे तत्काल अशुभ योनि को प्राप्त होते ।

न अर्चि मार्ग से ना ही धूम मार्ग से,
जो जाते नहीं इनमें से किसी मार्ग से,
क्षुद्रप्राणी[145] बन बारम्बार जन्म लेते,
यह परलोक न भरता इस कारण से ।

---

[140] अर्थात प्रकाश (सूर्य) के मार्ग को ।

[141] ब्रह्म अर्थात कार्यब्रह्म; यह देवयान मार्ग है (देखें चतुर्थ अध्याय 4/15/5 (अंतिम दो पद) ।

[142] इष्टापुर्त दानादि कर्म-अग्निहोत्र आदि वैदिक कर्म को 'इष्ट' कहते हैं; वापी, कूप, तड़ाग, बगीचे आदि लगवाने का नाम पूर्त है; और वेदी से बाहर दानपात्र व्यक्तियों को यथाशक्ति धन देना 'दत्त' कहलाता है ।

[143] यह धूम मार्ग कहा जाता है ।

[144] उत्तम योनि-अर्थात ब्राह्मणयोनि, क्षत्रिययोनि अथवा वैश्य योनि प्राप्त करते हैं तथा जो अशुभ आचरण वाले होते हैं वे तत्काल अशुभ योनि को प्राप्त होते हैं । वे कुत्ते की योनि, शूकरयोनि अथवा चाण्डालयोनि को प्राप्त करते हैं ।

[145] क्षुद्र प्राणी-अर्थात कीट-पतंग आदि जो बारम्बार मरकर फिर उत्पन्न होते रहते हैं ।

चार प्रकार के होते हैं महापातकी,
पहला ब्राह्मण का धन चुरानेवाला,
दूसरा जो ब्राह्मण होकर मद्य पीता,
तीसरा गुरुस्त्रीगामी, चौथा ब्रह्महत्यारा ।

और जो इन चारों का साथ करता,
वह भी महापातकी ही कहा जाता,
पर इन पंचाग्नियों को जाननेवाला,
अलिप्त रहता, पुण्यलोक को जाता ।

एकादश खण्ड

प्राचीनशाल, सत्ययज्ञ, इन्द्रद्युम्न, जन,
और बुडिल नामक ये पाँचो ऋषि एक बार,
अकस्मात किसी एक तीर्थस्थान पर मिल,
करने लगे वैश्वानरविद्यारूपी मन्त्रोचार ।

एक एक अंग के ज्ञाता होने के कारण,
उनका पाठ एक दूसरे से मिल न सका,
तब वे आपस में विचार करने लगे,
हमारा आत्मा कौन और ब्रह्म है क्या ?

तब उन पूजनीयों ने यह स्थिर किया,
कि उद्दालक वैश्वानर आत्मा को जानता,
सो हमें उसके पास चलना चाहिए,
उसके पास जा शान्त करें अपनी जिज्ञासा ।

उधर उद्दालक ने निश्चय किया,
ये परम श्रोत्रिय जो प्रश्न करेंगे मुझसे,
पूरी तरह से मैं बतला न सकूँगा,
सो दूसरा उपदेष्टा बतला दूँ मैं इन्हें ।

सो उद्दालक ने उनसे कहा इस समय,
केकयकुमार अश्वपति है इसका ज्ञाता,
उद्दालक उनके साथ वहाँ चल दिया,
उस राजा ने सत्कार किया उन सबका ।

दूसरे दिन प्रातः राजा ने उनसे कहा,
यदि आप लोग धन के निमित्त आए,
तो आप मेरा दिया धन स्वीकार करें,
पर वे ऋषि तो उस लिए नहीं थे आए ।

राजा को संशय हुआ कि इन्होने,
कदाचित मेरे धन को योग्य न समझा,
ऐसा सोच वो राजा उन ऋषियों से,
अपने राज्य के बारे में यों कहने लगा ।

मेरे देश में चोर, लोभी, कुकर्मी,
मूर्ख या व्यभिचारी आदि कोई नहीं,
फिर यह सोच कि धन थोड़ा लगा हो,
कहा मैं यज्ञ करूँगा, आप ठहरें यहीं ।

अपने ऋत्विजों में से हर एक को मैं,
जितना धन इस यज्ञ के लिए दूँगा,
उतना ही धन आप परम श्रोत्रियों में,
हर एक आदरणीय को भी मैं दूँगा ।

वे बोले, जिस प्रयोजन से हम आए,
हमें उचित हैं हम वही कहें आपसे,
आप वैश्वानर आत्मा को जानते हैं,
हमारे प्रति वर्णन कीजिये आप उसे ।

प्रात: विद्या प्रदान करूँगा, कहा राजा ने,
तब राजा के पास गए वे लेकर समिधा,
राजा ने उन्हें शिष्य बनाए बिना ही,
उपदेश दिया उन्हें वैश्वानर विद्या का ।

द्वादश खण्ड

राजा ने कहा-हे उपमन्युकुमार प्राचीनशाल !
तुम किस आत्मा की उपासना करते,
हे राजन ! द्युलोक की ही उपासना करता,
इस प्रकार उत्तर दिया प्राचीनशाल ने ।

राजा बोला तुम सुतेजानामक वैश्वानर की,
यानी आत्मा के सिर की उपासना करते,
तुम्हारे कुल में सुत, प्रसुत और आसुत,[146]
हे ऋषे ! दिखाई देते हैं, इसी कारण से ।

अन्न भक्षण करते, पुत्र-पौत्रादिवाले हो,
और तुम्हारा कुल ब्रह्मतेजमय दिखता,
जो इस वैश्वानर की ऐसे उपासना करता,
वो भी ऐसे ही इन सबसे सम्पन्न होता ।

फिर राजा ने कहा हे ऋषे ! यदि तुम,
मेरे पास न आकर, कहीं शास्त्रार्थ करते,
तो एक अंग को ही सम्पूर्ण समझने से,
तुम अपने सम्मान की स्वयं क्षति करते ।

त्रयोदश खण्ड

फिर उसने पुलुष के पुत्र सत्ययज्ञ से कहा,
तुम किस आत्मा की उपासना करते,
हे राजन ! आदित्य की ही उपासना करता,
इस प्रकार उत्तर दिया सत्ययज्ञ ने ।

राजा बोला तुम विश्वरूप[147] वैश्वानर की,
यानी आत्मा के नेत्र की उपासना करते,
तुम्हारे कुल में बहुत सी धन-सम्पत्ति,
हे ऋषे ! दिखाई देती है, इसी कारण से ।

अन्न भक्षण करते, पुत्र-पौत्रादिवाले हो,
और तुम्हारा कुल ब्रह्मतेजमय दिखता,
जो इस वैश्वानर की ऐसे उपासना करता,
वो भी ऐसे ही इन सबसे सम्पन्न होता ।

फिर राजा ने कहा हे ऋषे ! यदि तुम,
मेरे पास न आकर, कहीं शास्त्रार्थ करते,
तो एक अंग को ही सम्पूर्ण समझने से,
तुम अपने नेत्रों की ज्योति खो देते ।

---

[146] सुत, प्रसुत और आसुत-'सुत' अर्थात अभियुक्त (निकाला हुआ) सोमरूप लता द्रव्य; प्रसुत अर्थात कर्म में विशेषरूप से निकाला हुआ द्रव्य तथा आसुत अर्थात सत्र में सर्वतोभावेन निकाला हुआ सोमरस; तात्पर्य यह कि तुम्हारे कुटुम्बी बड़े ही कर्मनिष्ठ हैं ।

[147] विश्वरूप-सूर्य ।

चतुर्दश खण्ड

फिर उसने भाल्लवेय[148] इन्द्रद्युम्न से कहा,
तुम किस आत्मा की उपासना करते,
हे राजन ! मैं वायु की ही उपासना करता,
इस प्रकार उत्तर दिया इन्द्रद्युम्न ने ।

राजा बोला तुम पृथग्वर्त्मा[149] वैश्वानर की,
यानी आत्मा के प्राण की उपासना करते,
बहुत उपहार और रथादि तुम्हारे पास,
हे ऋषे ! दिखाई देते है, इसी कारण से ।

अन्न भक्षण करते, पुत्र-पौत्रादिवाले हो,
और तुम्हारा कुल ब्रह्मतेजमय दिखता,
जो इस वैश्वानर की ऐसे उपासना करता,
वो भी ऐसे ही इन सबसे सम्पन्न होता ।

फिर राजा ने कहा हे ऋषे ! यदि तुम,
मेरे पास न आकर, कहीं शास्त्रार्थ करते,
तो एक अंग को ही सम्पूर्ण समझने से,
तुम्हारे प्राण शरीर से उत्क्रमण कर देते ।

पञ्चदश खण्ड

फिर राजा ने शर्कराक्ष-पुत्र जन से कहा,
तुम किस आत्मा की उपासना करते,
हे राजन ! आकाश की ही उपासना करता,
इस प्रकार उत्तर दिया शार्कराक्ष्य जन ने ।

राजा बोला तुम बहुलसंज्ञक[150] वैश्वानर की,
यानी आत्मा का संदेह[151] की उपासना करते,
बहुत सी प्रजा और धन-सम्पत्ति आदि,
हे ऋषे ! दिखाई देते है, इसी कारण से ।

अन्न भक्षण करते, पुत्र-पौत्रादिवाले हो,
और तुम्हारा कुल ब्रह्मतेजमय दिखता,
जो इस वैश्वानर की ऐसे उपासना करता,
वो भी ऐसे ही इन सबसे सम्पन्न होता ।

फिर राजा ने कहा हे ऋषे ! यदि तुम,
मेरे पास न आकर, शास्त्रार्थ करते कहीं,
तो एक अंग को ही सम्पूर्ण समझने से,
तुम्हारा शरीर नष्ट हो रहता निश्चय ही ।

---

[148] भाल्लवेय-अर्थात भल्लवी के पुत्र ।
[149] पृथग्वर्त्मा-वायु ।
[150] बहुल-आकाश ।
[151] संदेह-अर्थात शरीर का मध्यभाग ।

षोडश खण्ड

फिर अश्वतराश्व के पुत्र बुडिल से कहा,
तुम किस आत्मा की उपासना करते,
हे राजन ! मैं जल की ही उपासना करता,
इस प्रकार उत्तर दिया राजा को बुडिल ने ।

राजा बोला तुम रयिसंज्ञक[152] वैश्वानर की,
यानी आत्मा के बस्ति[153] की उपासना करते,
बहुत सा धन और शरीर से बलवान,
हे ऋषे ! दिखाई देते हो, इसी कारण से ।

अन्न भक्षण करते, पुत्र-पौत्रादिवाले हो,
और तुम्हारा कुल ब्रह्मतेजमय दिखता,
जो इस वैश्वानर की ऐसे उपासना करता,
वो भी ऐसे ही इन सबसे सम्पन्न होता ।

फिर राजा ने कहा हे ऋषे ! यदि तुम,
मेरे पास न आकर, शास्त्रार्थ करते कहीं,
तो एक अंग को ही सम्पूर्ण समझने से,
तुम्हारा बस्तिस्थान फट रहता निश्चय ही ।

सप्तदश खण्ड

फिर राजा ने अरुण-पुत्र उद्दालक से कहा,
तुम किस आत्मा की उपासना करते,
हे राजन ! मैं पृथ्वी की ही उपासना करता,
यह उत्तर दिया आरुणेय उद्दालक ने ।

राजा बोला प्रतिष्ठासंज्ञक[154] वैश्वानर की,
यानी आत्मा के चरण को तुम उपासते,
बहुत सी सन्तान और बहुत से पशु आदि,
हे ऋषे ! दिखाई देते है, इसी कारण से ।

अन्न भक्षण करते, पुत्र-पौत्रादिवाले हो,
और तुम्हारा कुल ब्रह्मतेजमय दिखता,
जो इस वैश्वानर की ऐसे उपासना करता,
वो भी ऐसे ही इन सबसे सम्पन्न होता ।

फिर राजा ने कहा हे ऋषे ! यदि तुम,
मेरे पास न आकर, कहीं शास्त्रार्थ करते,
तो एक अंग को ही सम्पूर्ण समझने से,
तुम्हारे चरण निश्चय ही शिथिल हो रहते ।

अष्टादश खण्ड

तब राजा ने कहा, तुम सब ऋषिगण,
वैश्वानर आत्मा का एक अंग ही उपासते,
इस उपासना का फल है कि तुम सब,
सम्पन्न हो अन्न और पुत्र-पौत्र आदि से ।

यदि इस वैश्वानर आत्मा की उपासना,
कोई इसे सर्वव्यापक समझकर करता,
सर्वत्र स्थित, कर्मफलदाता जानता उसे,
वो सब लोकों में सम्पूर्ण सुख भोगता ।

---

[152] रयि-अर्थात जल ।

[153] बस्ति-अर्थात मूत्रसंग्रह का स्थान (Bladder-मूत्राशय) ।

[154] प्रतिष्ठासंज्ञक-प्रतिष्ठा अर्थात चरण ।

मस्तक ही सुतेजा है वैश्वानर आत्मा का,
चक्षु विश्वरूप, प्राण पृथग्वर्त्मा, संदेह बहुल,
बस्ति ही रयि, पृथ्वी ही दोनों चरण इसके,
वक्षःस्थल वेदी है और इसका लोम कुश ।

यज्ञकर्ता के घर में सदा स्थापित,
गार्हपत्य अग्नि हृदय है उसका,
और मन अन्वाहार्यपचन अग्नि है,
मुख आहवनीय अग्नि है उसका[155] ।

एकोनविंश खण्ड

तदनन्तर राजा ने उन ऋषियों से कहा,
भोजन के समय जो अन्न पहले आजाए,
उस पहले ग्रास को 'प्राणाय स्वाहा' कहते,
प्राण संतुष्टि के लिए, मुख में डाला जाए ।

प्राण तृप्त होने से नेत्र तृप्त होते,
नेत्र से सूर्य, सूर्य से द्युलोक तृप्त होता,
तब जिस पर वे अधिष्ठित[156] होते,
उससे हवनकर्ता सर्वविध[157] तृप्त होता ।

विंश खण्ड

फिर उसके बाद जो दूसरी आहुति दे,
'व्यानाय स्वाहा' ऐसा कहकर दे उसे,
इस प्रकार आहुति देने का यह फल,
कि व्यानवायु तृप्त होता है इससे ।

व्यान तृप्त होने से श्रोत्रेन्द्रिय तृप्त होतीं,
उनसे चन्द्रमा, चन्द्रमा से दिशाएँ तृप्त होतीं,
तब जिस पर वे स्वामिभाव से अधिष्ठित,
उससे हवनकर्ता को सर्वविध तृप्ति मिलती ।

एकविंश खण्ड

तत्पश्चात जो वो तीसरी आहुति दे,
'अपानाय स्वाहा' ऐसा कहकर दे उसे,
इस प्रकार आहुति देने का यह फल,
कि अपानवायु तृप्त होता है इससे ।

---

[155] गार्हपत्य वह अग्नि हे जो अग्निहोत्रकर्ता के घर में सदा स्थापित रहती है, अन्वाहार्य अग्नि वह है जिसको अग्नि-होत्रकर्ता गार्हपत्य अग्नि से निकाल कर हवन करते समय अपने दक्षिण की ओर रखता है, आहवनीय अग्नि वह है जो अन्वाहार्य से निकालकर हवनकर्ता अपने सम्मुख रखता हे और जिसमें मन्त्र पढ़कर आहुतियों को डालता है गार्हपत्य अग्नि की समता हृदय से इस कारण कही गयी है कि जैसे सब अग्नियों में मुख्य अग्नि गार्हपत्य है, वेसे ही शरीर के सब स्थानों में हृदय मुख्य है, जेसे गार्हपत्य अग्नि से दक्षिणाग्नि की उत्पति है वैसे ही मन की उत्पति हृदय से होती है, क्योंकि खाये हुये अन्न का सब रस प्रथम हृदय में जाता है फिर उसका अंश मन की वृद्धि करता है ओर जैसे आहवनीय अग्नि में आहुतियाँ छोड़ी जाती हैं इस मतलब से कि उसका फल देवताओं को मिले इसी प्रकार अन्नादिक भोग्य वस्तु की आहुति मुखरूप अग्नि में दी जाती है ताकि उसका फल नेत्रादिक शरीरस्थदेवताओं को मिले ।

[156] वे अर्थात द्युलोक और आदित्य स्वामिभाव से अधिष्ठित होते ।

[157] सर्वविध-अर्थात धन-सम्पत्ति, पशु आदि और ब्रह्मतेज से सम्पन्न होता है ।

अपान तृप्ति से वागिन्द्रिय तृप्त होती,
उससे अग्नि, अग्नि से पृथ्वी तृप्त होती,
तब जिस पर वे स्वामिभाव से अधिष्ठित,
उससे हवनकर्ता पाता सर्वविध तृप्ति ।

द्वाविंश खण्ड

इसके बाद जो वो चौथी आहुति दे,
'समानाय स्वाहा' ऐसा कहकर दे उसे,
इस प्रकार आहुति देने का यह फल,
कि समानवायु तृप्त होता है इससे ।

समान तृप्त होने से मन तृप्त होता,
मन से पर्जन्य, उससे विद्युत् तृप्त होती,
तब जिस पर वे स्वामिभाव से अधिष्ठित,
उससे हवनकर्ता पाता सर्वविध तृप्ति ।

त्रयोविंश खण्ड

तत्पश्चात जो वो पाँचवी आहुति दे,
'उदानाय स्वाहा' ऐसा कहकर दे उसे,
इस प्रकार आहुति देने का यह फल,
कि उदानवायु तृप्त होता है इससे ।

उदान तृप्ति से त्वक् इन्द्रिय तृप्त होती,
उससे वायु, वायु से आकाश तृप्त होता,
तब जिस पर वे स्वामिभाव से अधिष्ठित,
उससे हवनकर्ता भी सर्वविध तृप्त होता ।

चतुर्विंश खण्ड

वह जो इस वैश्वानर विद्या को,
जाने बिना ही हवन करने लगता,
उसका वह यज्ञ ऐसा है, जैसे कि कोई,
अंगारे हटा भस्म में हवन करता[158] ।

क्योंकि जो इस वैश्वानर का ऐसा ज्ञाता,
इसे जानकर तब अग्निहोत्र करता,
उसकी हवन की हुई ऐसी आहुति,
समस्त जीव, भूत और लोक प्राप्त करता ।

इस वैश्वानर विद्या के ज्ञाता का,
अग्निहोत्र कर्म पापमुक्त करता उसे ऐसे,
सींक का अग्रभाग अग्नि में घुसाने पर,
तुरन्त भस्म वो हो जाता है जैसे ।

अतः वह इस प्रकार जानने वाला,
यदि चाण्डाल को उच्छिष्ट भी दे दे,
तो भी वह उसका दिया हुआ अन्न,
आहुत होगा उसमें स्थित वैश्वानर में ।

इस लोक में जैसे भूखे बालक,
सब प्रकार उपासना करते माता की,
वैसे ही सब प्राणी उपासना करते,
इस ज्ञानी के भोजनरूप अग्निहोत्र की ।

---

[158] इस मन्त्र का तात्पर्य यह है कि प्राण आदि जो पुरुष के शरीर के अन्दर स्थित हैं उनके लिये आहुति देना श्रेष्ठ है, ब्राह्य अग्नि में आहुति देने की अपेक्षा अगर कोई पुरुष प्राणादि शरीरस्थ अग्नि को आहुति ज्ञानपुर्वक दता है ओर ब्राह्य अग्नि में नहीं देता है तो वह पाप से युक्त नहीं होता है ।

अथ षष्ठोअध्याय:

प्रथम खण्ड

अरुण का पौत्र और उद्दालक का पुत्र,
सबसे छोटा श्वेतकेतु जब सयाना हो गया,
पिता ने कहा मेरे वंश में कोई ऐसा नहीं,
जिसने गुरुगृह जा विद्याभ्यास न किया[159] ।

बारह वर्ष की अवस्था में उपनयन करा,
सम्पूर्ण वेदों का बारह वर्ष अध्ययन कर,
अपने को मेधावी और व्याख्याता मान,
चौबीस का हो, श्वेतकेतु आया लौटकर ।

श्वेतकेतु में उद्दण्डभाव देखकर,
उसके पिता ने पूछा श्वेतकेतु को,
तू जो ऐसा विनम्रताहीन हो रहा,
क्या तूने जाना है उस विद्या को ?

जिसके द्वारा अश्रुत श्रुत हो जाता,
अमत मत, अविज्ञात ज्ञात हो जाता,
यह सुन श्वेतकेतु ने पूछा पिता से,
हे भगवन् ! वह कौन सी है ऐसी विद्या ?

तब उद्दालक ने कहा कि, हे पुत्र !
मिट्टी से बने घटादि मिट्टी ही होते,
उस मिट्टी को जान लिए जाने पर,[160]
वे उसके कार्य, सब जान लिए गए होते ।

ऐसे ही सुवर्ण या लौहे से बनी वस्तुएँ,
उनका विकार,[161] उनका रूप ही होते,
भिन्न-भिन्न नामों से जाने जाते वे विकार,
पर वास्तव में तो सुवर्ण या लौह होते ।

तब श्वेतकेतु ने पिता से कहा,
निश्चय ही मेरे गुरुदेव नहीं जानते होंगे,
वरना वे मुझे अवश्य देते यह ज्ञान,
अब आप ही कृपाकर मुझे ये ज्ञान दें ।

---

[159] अर्थात वह केवल नाममात्र को ही ब्राह्मण हो ।

[160] जब कारण (मिट्टी) कार्य (घटादि) में अनुगत है तब वास्तव में. नामरूप छोड़कर जो कारण है वही कार्य है, जो कार्य है वही कारण है, जैसे एक मिट्टी की बनी हुई चीज़ें घट, हांडी आदि हैं, और मिट्टी उनमें अनुगत है; इस कारण वे सब मिट्टीरूप ही हैं, मिट्टी से पृथक उनकी कोई सत्ता नहीं है, अगर मिट्टी निकालकर देखा जाय तो कहीं उनका पता नहीं लगता ।

[161] विकार-अर्थात उनसे बनी हुई वस्तुएँ, जैसे अँगूठी, कुदाल आदि ।

द्वितीय खण्ड

उद्दालक ने कहा, हे सौम्य ! आरम्भ में
यह एकमात्र अद्वितीय सत्[162] ही था,
कोई कहते सत् नहीं बल्कि असत् था,
पर असत् से सत् भला कैसे हो सकता ?

उसने ईक्षण[163] किया 'मैं बहुत हो जाऊँ,'
सो संकल्प से तेज उत्पन्न किया उसने,
फिर तेज ने ईक्षण किया अनेक होने का,
तब जल को उत्पन्न किया तेज ने[164] ।

फिर जल ने इच्छा की अनेक होने की,
तो उसने इस हेतु उत्पन्न किया अन्न को,
इसी से जहाँ कहीं पर वर्षा होती है,
वह जल उत्पन्न करता है अन्नादि को ।

तृतीय खण्ड

उत्तर या दक्षिण मार्ग से भ्रष्ट हुए जीव,
तीन तरह से होती उनकी उत्पत्ति जग में,
वे उत्पन्न होते या तो अण्डे से या जेर से,
या पृथ्वी फोड़[165] वे उत्पन्न होते जग में ।

फिर उस सतरूप परमात्मा ने किया ईक्षण,
कि तेज, जल और अन्नरूप देवताओं में,
अपने आत्मा से अभिन्न[166] जीवरूप से,
प्रवेश कर नाना नामरूप वाला हो जाऊँ मैं ।

तीन-तीन विभाग करूँ मैं इन देवताओं का,
एक का आधा, बाकी दोनों का चौथाई लेकर,
नाम और रूप का व्यक्तिकरण करने को,
प्रवेश किया जीवात्मरूप से उनमें विचारकर ।

---

[162] सत्-यह अस्तित्व-मात्र वस्तु का बोधक है, जो कि सम्पूर्ण वेदान्तों से सूक्ष्म, निर्विशेष, सर्वगत, एक, निरंजन, निरवयव और विज्ञानस्वरूप जानी जाती है । यह सत् शाश्वत है अतः यहाँ यह कहना कि आरम्भ में सत् ही था शाश्वतता की दृष्टि से सत् के लिए प्रयुक्त किया जाना तर्क-संगत नहीं है, इसलिए इसका अर्थ यही समझना चाहिए कि सृष्टि के आरम्भ में यह सत् (अर्थात ब्रह्म) ही था, है, और रहेगा ।

[163] ईक्षण-अर्थात दर्शन, विचार, संकल्प ।

[164] जल तेज का कार्यभूत है, इसलिए जब कहीं पुरुष शोक-संताप करता है तो पसीने से युक्त हो जाता है । उस समय तेज से ही जल की उत्पत्ति होती है; (दूसरे शब्दों में तेज अर्थात ऑक्सीजन (O_2) से ही जल (H_2O) उत्पन्न होता है) ।

[165] अण्डे से-जैसे पक्षी, सर्पादि, जेर से-जैसे मनुष्य, पशु आदि और उद्भिज्ज अर्थात जो पृथ्वी का ऊपर की ओर भेदन करता (फोड़कर निकलता) है जैसे पेड़-पौधे आदि जिन्हें स्थावर कहा जाता है । स्वेदज अर्थात स्वेद (पसीने) से उत्पन्न होनेवाले और संशोकज (ऊष्मा से उत्पन्न होने वाले) जीवों का अंतर्भाव अण्डज और उद्भिज्जों में ही मानने पर उपरोक्त तीन प्रकार से जीवों की उत्पत्ति यहाँ कही गयी है ।

[166] अर्थात प्रतिबिम्बरूप चैतन्य जीवात्मा के साथ प्रवेश करूँ ।

चतुर्थ खण्ड

प्रज्वलित अग्नि में जो लालरूप है,
वह तेज का है यानी उसका अपना,
जो श्वेतरूप है वह जल का है,
और जो श्यामरूप है, वह पृथ्वी का ।

प्रकाशित अग्नि से ये तीनों रूप,
अलग कर यदि देखा जाए उसे,
तो अग्नि में अग्नित्व दिखेगा नहीं,[167]
बस शब्दमात्र अग्नि कहा जाएगा उसे ।

ऐसे ही आदित्य, चन्द्रमा और विद्युत्,
रोहित, श्वेत और श्यामरूप जो हैं इनके,
वे ही आदित्य आदि इन तीनों में सत्य हैं,
केवल शब्दमात्र ही हैं वे बगैर इनके ।

फिर उद्दालक ने पुत्र श्वेतकेतु से कहा,
पूर्ववर्ती महागृहस्थ, महाश्रोत्रिय इसे जान,
कहते हैं हमारे कुल में कोई ऐसा न हुआ,
जिसे इस त्रिवृतकरण[168] का नहीं था ज्ञान ।

हमारे पूर्वज त्रिवृतकरण के रूपों को जान,
सब कुछ जान गए थे, समझ गए थे वो,
हमारे लिए बचा न कुछ जानना-समझना,
हमारे लिए यह सब ज्ञान छोड़ गए हैं वो ।

हमारे कुल के माननीयों ने एकत्र हो,
पदार्थ देख, विचारकर यह निश्चय किया,
इनमें दिखता जो लाल, श्वेत व श्याम रंग,
वह क्रमश: है अग्नि, जल और पृथ्वी का ।

जाना न जा सका जो अतिसूक्ष्म होने से,
उसे भी इन तीनों के मेल से बना जाना,
अब मुझसे सुन इन तीनों देवताओं का,
पुरुष होकर कैसे त्रिवृत्-त्रिवृत् हो जाना ।

पञ्चम खण्ड

तीन प्रकार का हो जाता खाया हुआ अन्न,
उसका अत्यन्त स्थूल भाग मल हो जाता,
मांस हो जाता उसका जो मध्य भाग है,
जो अत्यन्त सूक्ष्म है वो मन हो जाता ।

ऐसे ही पिया हुआ जल भी.
मूत्र, रक्त और प्राण में बंट जाता,
खाया हुआ तेज-अर्थात घृतादि भी,
हड्डी, मज्जा और वाक् हो जाता ।

फिर उद्दालक ने कहा, मन अन्नमय है,
प्राण जलमय है और तेजोमय है वाक्,
यह सुनकर श्वेतकेतु ने कहा, हे भगवन् !
मुझे फिर से सब समझाकर कहिए आप ।

---

[167] इसलिये लाल, श्वेत, श्यामरुप अग्नि में सत्य हैं, इससे पृथक कुछ नहीं है जो अग्नि कहा जाय ।

[168] त्रिवृतकरण-अर्थात तेज, जल और अन्न (पृथ्वी) के रोहित (लाल), श्वेत और श्याम तीन-तीन विभाग ।

षष्ठ खण्ड

उद्दालक ने कहा मथे हुए दही का,
सूक्ष्म भाग ऊपर उठ घृत कहाता,
ऐसे ही खाए हुए अन्न का सूक्ष्म अंश,
जो ऊपर आ जाता,[169] मन हो जाता ।

पीये हुए जल का जो सूक्ष्म अंश होता,
जो उर्ध्व को जाता है, वो प्राण होता,
ऐसे ही होता तेज का जो सूक्ष्म अंश,
जो ऊपर को जाता, वह वाणी होता ।

यों समझा फिर कहा मन अन्नमय है,
प्राण जलमय है और वाक् है तेजोमय,
यह सुनकर श्वेतकेतु ने कहा, हे भगवन् !
मैं फिर से समझ, करना चाहता निश्चय ।

सप्तम खण्ड

हे सौम्य ! पुरुष सोलह कलाओं वाला है,
तू पन्द्रह दिनों तक[170] भोजन मत कर,
प्राण जलमय है, उसका नाश नहीं होगा,
तू ये दिन गुजार यथेष्ट जल ही पीकर ।

पन्द्रह दिन बाद पिता से पूछा उसने,
मैं क्या बोलूँ, बताएँ मुझे आप, हे भगवन् !
वे बोले ऋक्, यजुः और साम का करो पाठ,
उसने कहा, मुझे उनका नहीं होता स्फुरण ।

उद्दालक ने कहा बुझती अग्नि जैसे,
क्षीण हो एक अंगार मात्र रह जाती,
तेरी भी सोलह कलाओं में से एक बची,
तू भोजन कर, तब समझेगा बात मेरी ।

पिता की आज्ञानुसार श्वेतकेतु ने,
पन्द्रह दिन थोड़ा-थोड़ा भोजन किया,
तदन्तर पिता ने जो-जो पूछा उससे,
श्वेतकेतु ने उस सबका उत्तर दिया ।

तब पिता ने कहा, हे सौम्य ! जैसे,
बुझता अंगार फिर दहक जाता ईंधन पा,
वैसे ही तेरी शेष बची एक कला,
फिर से प्रज्वलित हो गयी भोजन को पा ।

कृष्णपक्ष में क्रमशः कलाएँ घटने से,
ज्यों चन्द्रमा प्रकाशहीन होता जाता,
वही चन्द्रमा शुक्लपक्ष में कलाएँ बढ़ने से,
फिर पुनः प्रकाश से युक्त होता जाता ।

---

[169] खाए हुए अन्न का जो सूक्ष्म भाग होता है वह मथनी के समान वायुसहित जठराग्नि द्वारा मथे जाने पर ऊपर आ जाता है, वह मन होता है, अर्थात मन के अवयवों के साथ मिलकर मन की पुष्टि करता है ।

[170] एक दिवस भोजन किये हुये अन्न का जो सूक्ष्म अंश है वो मन की एक कलाशक्ति है, ज़ब यह पृरुष षोडश दिन भोजन करता है तब सोलह अंश से युक्त हुआ मन षोडश कलावाला कहलाता है, ऐसे मन से युक्त हुआ पुरुष सब काम के करने में समर्थ होता है, अतः इस बात का निश्चय करने के लिये कि बिना अन्न के खाये हुए मन शक्तिहीन हो जाता है ओर मन के शक्तिहीन होने से पुरुष भी शक्तिहीन हो जाता है, उसे ऐसा करने को कहा ।

तू भी अपनी उन्हीं प्रकाशित कलाओं से,
हे सौम्य ! अनुभव कर रहा है वेदों का,
तब मन अन्नमय है, प्राण जलमय है,
वाक् तेजोमय है, श्वेतकेतु समझ गया ।

अष्टम खण्ड

तदन्तर उद्दालक ऋषि बतलाने लगे,
मन-स्थित जीवात्मा[171] के विषय में,
बोले, सत् से सम्पन्न हो जाता पुरुष,
जब यह होता सुषुप्ति अवस्था में ।

जब यह सत् से सम्पन्न हो जाता,
तब अपने स्वरूप को प्राप्त हो जाता,[172]
इसी से इसे 'स्वपिति' कहते हैं, क्योंकि,
तब यह अपने को ही प्राप्त हो जाता ।

जैसे डोरी में बँधा पक्षी इधर-उधर उड़कर,
अपने बन्धनस्थान का ही आश्रय लेता,
वैसे ही यह मन भी इधर-उधर भटक,
प्राणरूप होने से, प्राण में ही आश्रय लेता ।

तदन्तर भूख और प्यास के विषय में,
उद्दालक बोला, जब पुरुष खाना चाहता,
तब इसके भक्षण किए हुए अन्न को,
जल ही द्रवीभूत कर रस आदि बनाता ।

गौनाय, अश्वनाय और पुरुषनाय[173] जैसे ही,
जल को भी अशनाय[174] पुकारा जाता,
जल से ही शरीर रूपी अंकुर[175] हुआ जान,
यह शरीर बिना मूल के नहीं हो पाता ।

श्वेतकेतु द्वारा इसका मूल पूछने पर,
पिता बोले, अन्न के सिवा कौन हो सकता,
अन्नरूप अंकुर से जलरूप, उससे तेजोमय,
फिर पता कर तू इसके सद्रूप[176] मूल का ।

ऐसे विचारकर सृष्टि को देखने पर,
सत् ही मूल जाना जाएगा इस जग का,
वो ही आश्रय, लय स्थान भी वो ही,
सत् से पृथक नहीं कोई इसकी सत्ता ।

---

[171] जीवात्मा को ही पुरुष नाम से भी कहा गया है और उपनिषद् में परमात्मा की जीव में प्रवेश की तुलना दर्पण में प्रतिबिम्ब और जल में सूर्य के आभास से की गयी है ।

[172] सुषुप्ति-अर्थात गहरी निद्रा की अवस्था । स्वप्न में वासनारूप विषयों के दर्शन की वृत्ति रहती है, उसके मध्य को स्वप्नान्त अर्थात सुषुप्त कहते हैं । जिस प्रकार दर्पण को हटा लेने पर पुरुष का प्रतिबिम्ब स्वयं पुरुष को ही प्राप्त हो जाता है, उसी प्रकार उस सुषुप्त अवस्था में ही मन आदि की निवृत्ति हो जाने पर चैतन्य के प्रतिबिम्बरूप से, जीवात्मभाव से नामरूप की अभिव्यक्ति करने के लिए, मन में प्रविष्ट हुआ, वह परदेवता मनसंज्ञक जीवरूपता को त्यागकर स्वयं अपने स्वरूप को ही प्राप्त हो जाता है ।

[173] गौनाय, अश्वनाय और पुरुषनाय-अर्थात गौ को ले जानेवाला-ग्वाला; अश्वपाल और पुरुषों को ले जानेवाला सेनापति ।

[174] अशनाय-अर्थात भक्षित अन्न को ले जानेवाला; जल ।

[175] जल द्वारा रसादिभाव को प्राप्त हुए अन्न द्वारा यह शरीररूप अंकुर, वट के बीज से उत्पन्न होनेवाले अंकुर के समान, उत्पन्न हुआ है ।

[176] सद्रूप-अर्थात सत्-रूप; ब्रह्मरूप सत् ।

फिर उद्दालक बोले, जब जल पीता पुरुष,
तब तेज ही इसके पीये जल को ले जाता,
वही सत् अग्नि के इस सामर्थ्य का कारण,
ऐसी इस अग्नि को 'उदन्या' कहा जाता ।

हे सौम्य ! उस जलरूप मूल से,
उत्पन्न हुआ यह शरीररूप अंकुर,
निर्मूल नहीं हो सकता यह शरीर,
जल सिवा कौन हो सकता वो मूल?

हे प्रियदर्शन ! जलरूप अंकुर के द्वारा,
खोज कर तू उस तेजोरूप मूल की,
और फिर उस तेजोरूप अंकुर के द्वारा,
हे सौम्य ! शोध कर सद्रूप मूल की ।

सत् ही मूल, आश्रय, लयस्थान जग का,
उद्दालक बोले कह चुका मैं पहले भी,
अग्नि, जल और पृथ्वी पुरुष को पाकर,
कैसे त्रिवृत होते हैं, कह चुका मैं वो भी ।

हे सौम्य ! पुरुष जब शरीर त्यागता,
तब इसकी वाणी लीन हो जाती मन में,
मन प्राण में, प्राण तेज में प्रवेश करते,
और तेज लीन हो जाता परदेवता में ।

जो अतिसूक्ष्म कहा गया सबका आश्रय,
हे सौम्य ! सोई है, यह तेरा आत्मा,
यही आत्मा सब जगत का सद्रूप है,
'सोई तू है,'[177] वही परब्रह्म परमात्मा ।

तृप्त नहीं हुआ श्वेतकेतु तो उसने,
कहा पिता से मुझे और समझाइये,
आपकी अमृतवाणी और सुनना चाहता,
मुझे ब्रह्म के विषय में और बतलाइये ।

नवम खण्ड

प्रतिदिन सत् को प्राप्त होकर भी प्रजा,
नहीं जानती, प्राप्त हो गए हम सत् को,
इस अज्ञान का कारण जो तू पूछ रहा,
हे सौम्य ! सुन मुझसे इसके कारण को ।

मधु तैयार करने को मधुमक्खियाँ,
नाना वृक्षों से रस को लेकर आतीं,
फिर उस रस का छत्ते में सेचन कर,
उसे मधुत्वभाव को प्राप्त करातीं ।

जैसे वे भिन्न-भिन्न रस छत्ते में जाकर,
नहीं विवेक रखते कि मैं अमुक रस था,
सुषुप्ति, मरण या प्रलयकाल में जीव वैसे,
नहीं जानते मैं ब्रह्म हूँ, मैं ही ब्रह्म था ।

[177] सोई तू है-**तत्त्वमसि**-यह छान्दोग्योपनिषद् (6-8-7) का अत्यन्त ही प्रसिद्द और महत्त्वपूर्ण मन्त्र है ।

अहंकारजन्य वासना कि हम ये हैं, वो हैं,
जीव उसे ले उस अवस्था में प्रवेश करते,[178]
इसी कारण उनकी पूर्व की वासना वहाँ से,
उन्हें खींच लाती, वे फिर कर्म करने लगते ।

जो अतिसूक्ष्म सबका अधिष्ठान कहा गया,
हे सौम्य ! सोई है यह तेरा आत्मा,
यही आत्मा सब जगत का सद्रूप है,
सोई तू है, हे श्वेतकेतु ! परब्रह्म परमात्मा ।

पिता की अमृतवाणी और सुनने को,
कहा पिता से मुझे और समझाइये,
मैं इस विषय में और सुनना चाहता,
मुझे ब्रह्म के विषय में और बतलाइये ।

दशम खण्ड

उद्दालक ने कहा ये नदियाँ बहतीं,
पूर्ववाहिनी और पश्चिमवाहिनी होकर,
समुद्र से निकलीं, उसी में मिल जातीं,
समुद्र बन जाती, अपनी हस्ती भूलकर ।

ठीक इसी प्रकार यह समस्त प्रजा भी,
सत् से आ, नहीं जानती सत् से आए,
इस लोक में पशु, पक्षी, कीटादि जो होते,
लौट आते फिर उसी भाव को अपनाए ।

जो अतिसूक्ष्म सबका अधिष्ठान कहा गया,
हे श्वेतकेतु ! सोई है यह तेरा आत्मा,
यही आत्मा सब जगत का सत्य है,
सोई तू है, हे सौम्य ! परब्रह्म परमात्मा ।

अभी तृप्त नहीं हुआ श्वेतकेतु तो,
उसने कहा पिता से और समझाइये,
मैं आपकी अमृतवाणी सुनना चाहता,
मुझे ब्रह्म के विषय में और बतलाइये ।

एकादश खण्ड

उद्दालक बोले, जड़ में कुल्हाड़ी मारने से,
वृक्ष से थोडा रसस्त्राव होगा, सूखेगा नहीं,
वैसे ही मध्य में या चोटी पर मारें तो भी,
घाव से रस टपकेगा, वृक्ष सूखेगा नहीं ।

कारण, वृक्ष भर में जीवात्मा व्यापक है,
जो पोषण खींच पूरे वृक्ष में फैलाता,
वही है जो पूरा कर देता उस घाव को,
वही है जो मोदमान हुआ स्थित रहता ।

यदि किसी शाखा को जीव छोड़ देता,
तो उस कारण से वो शाखा सूख जाती,
यदि जीव सारे वृक्ष को ही छोड़ दे तो,
वो सारा वृक्ष, सारी शाखाएँ सूख जाती ।

---

[178] अहंकारजन्य वासना कि हम ब्राह्मण हैं, क्षत्रिय हैं, वैश्य हैं, शुद्र हैं, सिंहादि हैं, ऐसे संस्कार को लेकर जीव सुषुप्ति आदि काल में प्रवेश करते हैं, में ब्रह्म हूँ, मैं सत्-चित् आनन्दरूप हूँ ऐसा अनुभव करके नहीं प्रवेश करते हैं, और यही कारण है कि उनको पूर्व की वासना वहाँ से बाहर खींच लाकर उनके कर्मादिकों में लगा देतीं है, और तब वे अपने कर्म पूर्ववत करने लगते हैं ।

हे सौम्य! जब जीव वृक्ष से निकल जाता,
तो वह वृक्ष मर जाता, जीव नहीं मरता,
यही अवस्था मनुष्य के शरीर की है,
उसका शरीर मरता, जीवात्मा नहीं मरता ।

जो अतिसूक्ष्म सबका अधिष्ठान कहा गया,
हे सौम्य ! सोई है यह तेरा आत्मा,
यही आत्मा सब जगत का सद्रूप है,
सोई तू है, हे सौम्य ! परब्रह्म परमात्मा ।

अभी भी तृप्त नहीं हुआ श्वेतकेतु तो,
उसने पिता से कहा मुझे और समझाइये,
मैं आपकी अमृतवाणी और सुनना चाहता,
हे भगवन ! मुझे आप अभी और बतलाइये ।

द्वादश खण्ड

उद्दालक बोले, सामने स्थित वट वृक्ष से,
हे श्वेतकेतु ! तू एक फल तोड़कर ले आ,
जब श्वेतकेतु फल तोड़कर लाया तो,
कहा, फोड़कर देख, इसमें क्या दिखता ?

उस फल में अणु समान छोटे दानों में से,
फोड़ एक को, पुत्र से उद्दालक ने कहा,
फिर पूछने पर इसमें क्या दिखता है,
कुछ भी नहीं भगवन् ! श्वेतकेतु ने कहा ।

उद्दालक ने कहा, इस रिक्तता से ही,
देख, इतना बड़ा वट वृक्ष खड़ा हो रहा,
ऐसे ही निराकार परब्रह्म से निकलकर,
यह वटवृक्षवत् संसार विस्तरित हो रहा ।

श्रद्धासहित विचार करने से समझेगा,
कि बीज के इन दो दालों के मध्य में,
निराकार सृजन शक्ति स्थित रहती है,
इस अदृश्य से अतिसूक्ष्म अंकुर में ।

फिर उसी अंकुर से कालगति को पाकर,
ऐसा विशाल वृक्ष हो जाता है प्रकट,
ऐसे ही उस सत् परमात्मा से निकला यह,
अनिवर्चनीय सत्-असत् से विलक्षण जगत ।

जो अतिसूक्ष्म सबका अधिष्ठान कहा गया,
हे सौम्य ! सोई है यह तेरा आत्मा,
यही आत्मा सब जगत का सद्रूप है,
सोई तू है, हे श्वेतकेतु ! परब्रह्म परमात्मा ।

पिता से अभी और सुनने के लिए,
श्वेतकेतु ने कहा, मुझे और समझाइये,
मैं अभी और ज्ञान प्राप्त करना चाहता,
हे भगवन ! मुझे आप और समझाइये ।

त्रयोदश खण्ड एवं चतुर्दश खण्ड

उद्दालक ने उसे नमक का एक डला दे,
कहा, इसे जल में डाल, कल प्रातः आना,
प्रातः उद्दालक ने श्वेतकेतु से कहा,
वो जो जल में डाला था, नमक ले आना ।

किन्तु श्वेतकेतु ने ढूँढने पर भी,
वह नमक का डला उसमें नहीं पाया,
उद्दालक ने कहा उसे जल आचमन करे,
तो सर्वत्र वो जल उसने नमकीन पाया ।

पिता ने कहा, जैसे इस सब जल में,
नमक सर्वत्र व्यापक है पर नहीं दिखता,
ऐसे ही ब्रह्म सर्वत्र व्यापक है जगत में,
अदृश्य, लेकिन अनुभव किया जा सकता ।

फिर कहा आँख-बन्द किसी पुरुष को,
छोड़ दें निर्जन स्थान पर गान्धारदेश में,
क्रन्दन करता हुआ वो भटकता ही रहेगा,
न जानेगा गान्धारदेश है किस दिशा में ?

कोई दयालु यदि उसकी आँखें खोलकर,
दिशा बता दे उसे यदि गान्धारदेश की,
तो वो विज्ञ गाँव-गाँव मार्ग पूछता हुआ,
पा ही जाएगा सही राह गान्धारदेश की ।

ऐसे ही सत् के ज्ञाता सदाचारी के लिए,
जो अविद्यारूपी बन्धन से मुक्त हो चुका,
सदात्म-स्वरूप को पाने में उतनी ही देर है,
जब तक देह-बन्धन से मुक्त हो न चुका ।

जो अतिसूक्ष्म सबका आधार कहा गया,
हे सौम्य ! सोई है यह तेरा आत्मा,
यही आत्मा सब जगत का सद्रूप है,
सोई तू है, हे सौम्य ! परब्रह्म परमात्मा ।

अभी शान्त हुई न ज्ञान-पिपासा,
सो श्वेतकेतु ने और जानना चाहा,
पिता से कहा मुझे और समझाइये,
आपकी अमृतवाणी का मैं हूँ प्यासा ।

पञ्चदश खण्ड एवं षोडश खण्ड

पिता ने कहा कोई बीमार मुमूर्षु[179] पुरुष,
अपने सम्बन्धियों को तभी तक पहचानता,
जब तक वाणी मन में, मन प्राण में,
प्राण तेज में, तेज सत् में समा न जाता ।

वाणी, मन, प्राण और तेज,
क्रमश: एक-दूसरे में लय होकर,
जब तेज सत् में लीन हो जाता,
तब वो लीन हो जाता सब भूलकर ।

पुरुष का मरना संसार में वैसे ही है,
जेसे सुषुप्ति में सत्-ब्रह्म को प्राप्त होना,
तेज का सत् में लीन होना वैसे ही है,
जैसे सुषुप्ति को प्राप्त का कुछ न जानना ।

अज्ञानी मरकर पूर्वकर्मों के संस्कार वश,
विभिन्न योनियों में फिर से जन्म लेते,
ज्ञानी कर्म-वासना काट, सत-स्वरूप जान,
देहत्यागकर फिर पुन: जन्म नहीं लेते ।

[179] मुमूर्षु-अर्थात मृत्यु के सन्निकट ।

किसी संदिग्ध चोर का सत्य जानने को,
उसके हाथ में गर्म परशु पकड़ाया जाता,
हाथ जल जाता उसका यदि चोरी की हो,
सच्चा हो वो तो सत्य के बल बच जाता ।

वह जिसने चोरी न की हो, उस समय,
जलता नहीं गर्म परशु को पकड़ने से,
वैसे ही ब्रह्म को व्यापक जानने वाला,
आता नहीं इस जगत में पुन: लौट के ।

जो अतिसूक्ष्म सबका आधार कहा गया,
सोई है यह तेरा आत्मा, हे श्वेतकेतु !
जगत का सद्रूप आत्मा, सोई तू है,
जान गया, जान गया उसे तब श्वेतकेतु ।

अथ सप्तमोअध्याय:

प्रथम खण्ड

'हे भगवन्! मुझे उपदेश कीजिये,' कहते,
ऋषि नारदजी गए सनत्कुमारजी के पास,
वे बोले तुम जो जानते हो, बतलाओ मुझे,
ताकि उसके आगे की हम कर सकें बात ।

नारदजी बोले, समस्त वेद, इतिहास, पुराण,
व्याकरण, श्राद्धकल्प, गणित, उत्पातज्ञान,
निधिशास्त्र, तर्कशास्त्र, देव और ब्रह्मविद्या,
नृत्य-संगीतादि[180] विद्याओं का मुझे ज्ञान ।

यह सब जानते, मैं केवल मन्त्रवेत्ता ही हूँ,
जानता हूँ केवल शब्दार्थ मात्र उनका,
सुना है, आत्मवेत्ता शोक को पार कर लेता,
पर मैं अभी तक बना हूँ पात्र शोक का ।

तब सनत्कुमार ने नारदजी से कहा,
तुम जो जानते हो, वो सब बस है नाम,
ऋगवेद-यजुर्वेद आदि भी नाम ही हैं,
उपासना करो ब्रह्म-बुद्धि से ये नाम[181] ।

वह जो कि नाम की 'यह ब्रह्म है,'
ऐसा जान-समझकर उपासना करता,
वो, जहाँ तक नाम की गति होती है,
वहाँ तक यथेच्छ गति प्राप्त करता ।

ऐसा कहे जाने पर नारदजी ने पूछा,
क्या कुछ है नाम से भी बढ़कर,
वे बोले, 'नाम से बढ़कर भी है ही,'
तो नारदजी बोले क्या है उससे बढकर ?

---

[180] अर्थात-ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और चौथा अथर्ववेद; इतिहास-पुराणरूप पाँचवाँ वेद, व्याकरण, श्राद्धकल्प, गणित, उत्पातज्ञान, निधिशास्त्र, तर्कशास्त्र, नीति, देवविद्या, ब्रह्मविद्या, भूतविद्या, क्षत्रविद्या, नक्षत्रविद्या, सर्पविद्या, और देवजनविद्या-नृत्य-संगीत आदि ।

[181] सनत्कुमारजी ने विचार किया कि नारदऋषि अनेक प्रकार की विद्या जानते हैं, इस कारण उन सबका संस्कार उनके अन्त:करण में स्थित है, जो संशय की जड़ है, जब तक उस सब का अभाव न हो जायेगा तब तक उनको आत्मसाक्षात्कार न होगा । अत: उनको स्थूल नामोपासना से अन्तरप्राणोपासना के लिए प्रेरित करने के लिए उन्होंने नारदजी को कहा कि जो कुछ विद्या आपने पढ़ी है, वह सब नाम ही है, जिसकी ब्रह्मबुद्धि से उपासना करने से उनका इस सबमें ब्रह्म भाव जाग्रत होगा ।

द्वितीय खण्ड एवं तृतीय खण्ड

सनत्कुमार ने कहा, नाम से वाणी श्रेष्ठ है,
वाणी ही वेद, विद्यादि[182] का ज्ञान कराती,
सत्य और असत्य, धर्म और अधर्म आदि,
वाणी ही है जो इन सबका ज्ञान कराती ।

'वाणी ही ब्रह्म है' समझ करता उपासना,
वाणी की गति तक उसकी भी पहुँच होती,
वाणी से बढकर क्या है यह पूछने पर,
वे बोले, वाणी पर मन की श्रेष्ठता होती ।

दो आवलें, दो बेर या दो बहेड़े के फल,
जैसे मुट्ठी में रख अनुभव किए जाते,
वैसे ही वाक् और नाम ये दोनों भी,
पुरुष द्वारा मन से अनुभव किए जाते ।

किसी भी कार्य को करने से पहले जरूरी,
उसका संकल्प[183] मन से किया जाना,
सो मन ही आत्मा, लोक और ब्रह्म भी,[184]
इसलिए हे नारद ! करो मन की उपासना ।

वह जो कि मन की 'यह ब्रह्म है,'
ऐसा जान-समझकर उपासना करता,
वो, जहाँ तक मन की गति होती है,
वहाँ तक यथेच्छ गति प्राप्त करता ।

ऐसा कहे जाने पर नारदजी ने पूछा,
क्या कुछ ऐसा है जो बढ़कर मन से,
वे बोले, 'मन से बढ़कर भी है ही,'
नारदजी बोले उसका वर्णन करें मुझसे ।

चतुर्थ खण्ड

सनत्कुमार ने कहा, संकल्प मन से बढ़कर,
संकल्प से मनुष्य बोलने की इच्छा करता,
उससे वाणी, तब नाम, फिर नाम से मन्त्र,
और मन्त्रों में कर्मों का अन्तर्भाव रहता ।

---

[182] अर्थात-ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, चतुर्थ अथर्ववेद, पाँचवाँ वेद इतिहास-पुराण, वेदों का वेद (व्याकरण), श्राद्धकल्प, गणित, उत्पातज्ञान, निधिज्ञान, तर्कशास्त्र, नीतिशास्त्र, निरुक्त, देवविद्या, भूतविद्या, धनुर्वेद, ज्यौतिष, गारुड, संगीतशास्त्र, द्युलोक, पृथ्वी, वायु, आकाश, जल, तेज, देव, मनुष्य, पशु, पक्षी, तृण-वनस्पति, श्वापद, कीट-पतंग,पिपीलिकापर्यन्त प्राणी, धर्म और अधर्म, सत्य और असत्य, साधु और असाधु, मनोज्ञ और अमनोज्ञ, जो कुछ भी है उसे वाक् ही विज्ञापित करती है ।

[183] यह पुरुष जिस समय मन से विचार करता है कि 'मन्त्रों का पाठ करूँ' तभी पाठ करता है, जिस समय सोचता है 'काम करूँ' तभी काम करता है, जब विचारता है 'पुत्र और पशुओं की इच्छा करूँ' तभी उनकी इच्छा करता है और जब ऐसा संकल्प करता है कि 'इस लोक और परलोक की कामना करूँ' तभी उनकी कामना करता है ।

[184] मन ही आत्मा है क्योंकि मन के रहने पर ही आत्मा का कर्तृत्व-भोक्तृत्व सिद्ध होता है, अन्यथा नहीं । मन ही लोक है क्योंकि मन के रहने पर ही लोक और उसकी प्राप्ति के उपाय का अनुष्ठान होता है । और क्योंकि मन ही लोक है, इसलिए मन ही ब्रह्म है ।

संकल्प ही जिनका स्थान, स्वरूप, स्थिति,
वे द्योलोक और पृथ्वी भी बने संकल्प से,
वायु और आकाश दोनों भी संकल्पकृत हैं,
जल व अग्नि भी उत्पन्न हुए संकल्प से ।

इनका संकल्प कर संकल्प करता वर्षा का,
वर्षा के बाद अन्न, अन्न के बाद प्राण का,
फिर मन्त्र, मन्त्रों से कर्म, कर्म से लोक,
इसलिए उचित करना संकल्प की उपासना ।

वह जो कि संकल्प की 'यह ब्रह्म है,'
इस प्रकार समझकर उपासना करता,
ध्रुवादि लोकों को पाता ध्रुवादि होकर,
संकल्प की गति तक अपनी गति पाता ।

ऐसा कहे जाने पर नारदजी ने पूछा,
क्या कुछ ऐसा है जो है संकल्प से बढ़कर,
वे बोले, 'संकल्प से बढ़कर भी है ही,'
नारदजी ने पूछा वो क्या है उससे बढकर ?

पञ्चम खण्ड

सनत्कुमार बोले, चित्त संकल्प से उत्कृष्ट,
चेतना होने पर ही संकल्प व मनन होता,
मनन प्रेरित करता है वाणी को नाम में,
नाम में मन्त्र, मन्त्र में कर्म लीन होता ।

संकल्प से लेकर कर्मफल तक वे सब,
चित्त से उत्पन्न, चित्त में ही स्थित रहते,
विक्षिप्त चित्त विद्वान सम्मान न पाते,
स्थिर चित्त अज्ञ भी सम्मानित हो रहते ।

वह जो कि चित्त की 'यह ब्रह्म है,'
इस प्रकार समझकर उपासना करता,
ध्रुवादि लोकों को पाता ध्रुवादि होकर,
चित्त की गति तक अपनी गति पाता ।

तब नारदजी ने पूछा सनत्कुमार से,
क्या कुछ ऐसा है जो है चित्त से बढ़कर,
वे बोले, 'चित्त से बढ़कर भी है ही,'
उन्होंने पूछा क्या है वो चित्त से बढकर ?

षष्ठ खण्ड

सनत्कुमार बोले, ध्यान चित्त से बढ़कर है,
पृथ्वी, अन्तरिक्ष आदि मानों करते ध्यान,
जल और पर्वत भी मानों करते ऐसा ही,
देवता और मनुष्य भी मानों करते ध्यान ।

जो लोग यहाँ महत्त्व और सामर्थ्य पाते,
मानों पाते ध्यान के लाभ का अंश ही वो,
ध्यान बिना लोग दुर्गुणों के दास होते,
सो हे नारद ! ध्यान की उपासना करो ।

वह जो ध्यान की 'यह ब्रह्म है,'
इस प्रकार समझकर उपासना करता,
उसकी जहाँ तक ध्यान की गति है,
वहाँ तक यथेच्छ गति वो भी पाता ।

इस प्रकार कहे जाने पर नारदजी ने,
पूछा क्या कुछ है जो है श्रेष्ठ ध्यान से,
सनत्कुमार बोले, 'ध्यान से बढ़कर भी है ही,'
पूछा उन्होंने, क्या है वो बढकर ध्यान से ?

सप्तम खण्ड, अष्टम खण्ड, नवम खण्ड, दशम खण्ड, एकादश खण्ड एवं द्वादश खण्ड

विज्ञान को बताया ध्यान से श्रेष्ठ उन्होंने,
क्योंकि विज्ञान से ही वेदादि को जाना जाता,
विज्ञान की ब्रह्म समझ उपासना करनेवाला,
विज्ञान की गति तक, अपनी गति पाता ।

फिर कहा, बल विज्ञान से उत्कृष्ट है,
क्योंकि बल के बल पर ही यह संसार टिका,
बल की गति तक स्वेच्छा से गति हो जाती,
बल की ब्रह्म समझकर जो उपासना करता ।

फिर बोले, बल की अपेक्षा अन्न उत्कृष्ट है,
अन्न से ही पुरुष बल को प्राप्त करता,
कुछ दिन यदि उसे अन्न न मिले तो वो,
जीवित रहते भी निष्क्रिय सा हो रहता ।

अन्न की अपेक्षा जल को उत्कृष्ट बता,
सनत्कुमार बोले, जल बिना अन्न नहीं होता,
वृष्टि न होने से प्राण दुःखी हो जाते,
सुवृष्टि होने से प्राण में प्राण संचार होता ।

यह जो पृथ्वी है मूर्तिमान जल ही है,
अन्तरिक्ष, द्युलोक और पर्वत आदि भी,
देव-मनुष्य, पशु, पक्षी और ओषधियाँ,
कीट-पतंग-पिपीलकापर्यन्त अन्य प्राणी भी ।

जल की ब्रह्म भावना से जो उपासना करता,
समस्त कामनाओं को वो प्राप्त कर लेता,
जहाँ तक जल की गति, उसकी गति होती,
ऐसे सिद्ध है जल की अन्न पर श्रेष्ठता ।

फिर बोले, जल की अपेक्षा तेज श्रेष्ठतर,
इस तेज से ही वायुमण्डल तप्त होता,
बादल और बिजलीरूप में प्रकट होकर तेज,
अन्न उत्पत्ति के लिए वर्षा का हेतु होता ।

वह जो कि तेज की 'यह ब्रह्म है,'
ऐसा समझकर उसकी उपासना करता,
तेज की गति तक गति पाता स्वेच्छा से,
उत्तम तेजोमय लोकों को प्राप्त करता ।

तदन्तर बोले तेज से बढ़कर आकाश है,
आकाश में ही सूर्य, चन्द्र, विद्युत् स्थित,
आकाश से ही पुकारते और सुनते हैं,[185]
आकाश को लक्ष्य कर बीज होते अंकुरित ।

आकाश में ही दुःख-सुख अनुभव करते,
उसी में जीव उत्पन्न होते और मरते,
ब्रह्मभाव से उसकी उपासना करनेवाले,
प्रकाशवान, विस्तारवाले लोकों को पाते ।

[185] आकाश अर्थात 'Ether', 'Space' (स्थान, आश्रय, व्योम) में ही सूर्य, चन्द्र, विद्युत् और नक्षत्र आदि के रूप में तेज स्थित है और आकाश अर्थात वायुरूपी माध्यम द्वारा ध्वनि का प्रसारण होता है ।

तब नारदजी पूछने लगे सनत्कुमार से,
क्या कुछ है जो है आकाश से बढ़कर,
वे बोले, 'आकाश से बढ़कर भी है ही,'
पूछा उन्होंने, क्या है वो उससे बढकर ?

त्रयोदश खण्ड

हे नारद ! आकाश से श्रेष्ठ है स्मृति,
स्मृति बिना सम्भव नहीं जानना, समझना,
उसके द्वारा ही लोग पहचानते औरों को,
सो हे नारद ! स्मरण की करो उपासना ।

वह जो कि स्मर की 'यह ब्रह्म है,'
ऐसा समझकर उसकी उपासना करता,
वो, जहाँ तक स्मर की गति होती है,
वहाँ तक यथेच्छ गति प्राप्त करता ।

इस प्रकार कहे जाने पर नारदजी ने,
पूछा क्या कुछ है जो है श्रेष्ठ स्मर से,
वे बोले, 'स्मर से बढ़कर भी है ही,'
नारदजी बोले, क्या है वो बढकर स्मर से ?

चतुर्दश खण्ड एवं पञ्चदश खण्ड

सनत्कुमार बोले, आशा श्रेष्ठ है स्मर से,
क्योंकि आशा से पुरुष स्मृतियुक्त होता,
मन्त्रों का ध्यान कर प्रवृत होता कर्म में,
पुत्र-पौत्रादि, लोक-परलोक की सोचता ।

आशा की ब्रह्मभाव से जो उपासना करता,
आशा से समृद्ध होतीं कामनाएँ उसकी,
सफल होतीं उसकी प्रार्थनाएँ और आशीर्वाद,
आशा की गति तक होती गति उसकी ।

आशा से श्रेष्ठ पूछने पर वे बोले,
हे नारद ! प्राण श्रेष्ठतर हैं आशा से,
रथचक्र की नाभि से जैसे अरे जुड़े रहते,
सारा जगत् समर्पित है इस प्राण में ।

प्राण ही माता, पिता, भ्राता, भगिनी,
प्राण ही आचार्य और ब्राह्मण हैं प्राण,
माता-पिता आदि सब सम्बन्ध मिट जाते,
शरीर से जब निकल जाते हैं प्राण ।

माता-पिता, भाई-बन्धुओं आदि के लिए,
यदि कोई पुरुष कुछ अनुचित बात कहता,
सब लोग उसे धिक्कारने लगते हैं,
उन माता-पिता आदि का उसे कहते हंता ।

किन्तु जिनके प्राण उत्क्रमण कर गए,
उन्हें छिन्न-भिन्न कर जलाने पर भी,
कोई उसे उनका हंता नहीं कहता क्योंकि,
उनमें अब वे 'नामधारी' प्राण[186] रहे नहीं ।

यों प्राण के महत्व को जो ऐसे जानता,
लोगों द्वारा अतिवादी[187] कहा जाता है उसे,
ऐसा कहने पर उसे छिपाना नहीं चाहिए,
प्राण को ही सर्वोपरि मानना चाहिए उसे ।

षोडश खण्ड एवं सप्तदश खण्ड

अपने आत्मा प्राण को ही सर्वात्मा सुन,
और यह समझ कि इससे परे कुछ नहीं,
शान्त हो गए नारदजी और उन्होंने फिर,
सनत्कुमार से पूर्ववत प्रश्न किया नहीं ।

मिथ्या ज्ञान से संतुष्ट हुए, अकृतार्थ,
अपने को परमार्थ सत्यातिवादी माननेवाले,
उन योग्य शिष्य नारदजी पर अनुग्रह कर,
परमार्थसत्य तत्त्व सनत्कुमार लगे बतलाने ।

सत्य के कारण अतिवदन जो करता,
बोले, वही वास्तव में करता है अतिवदन,
सो सत्य की जिज्ञासा करनी चाहिए,
यदि करना चाहते सत्य द्वारा अतिवदन ।

नारदजी बोले मैं सत्य जानना चाहता,
हे भगवन् ! मुझे ज्ञान दीजिए सत्य का,
सनत्कुमार बोले, वही कह सकता सत्य को,
जो परमार्थ सत्य का हो वास्तविक ज्ञाता ।

जो सत्य को नहीं जानता है वो,
परमार्थ सत्य को नहीं कह सकता,
विज्ञान द्वारा ही जाना जाता वो सत्य,
सो उचित है आश्रय लेना विज्ञान का ।

जैसे नामरूपात्मक घटरूप उपाधि का,
सत्य है उनकी उपादान कारण मृत्तिका,
सत्यरूप मृत्तिका से बने हुये वे घटादि,
मृत्तिका से अलग नहीं अस्तित्व उनका ।

प्राण को जो सत्य कहा है वह,
नामादिकों की अपेक्षा से सत्य कहा,
क्योंकि प्राण भी ओर विकारों की तरह,
घटता-बढ़ता, चलता, निकल जाता ।

इसका जो अधिष्ठान है, सत्य है वही,
उपनिषदों द्वारा जानने योग्य विज्ञान,
उपनिषदों के विचार से यथार्थ ज्ञान है जो,
तुम्हारे जानने योग्य, वही है विज्ञान ।

---

[186] अर्थात माता, पिता, भाई, भगिनी आदि जिनका नाम था वे तो प्राण थे, जो अब उस शरीर में नहीं रहे ।

[187] अतिवादी-आतिवादी वह होता है जो सत्यभाषण आदि साधनसम्पन्न होता हुआ परमार्थ सत्यत्वस्तु को सम्यक् प्रकार जाननेवाला होता है ।

अष्टादश खण्ड, एकोनविंश खण्ड, विंश खण्ड, एकविंश खण्ड, द्वाविंश खण्ड, त्रयोविंश खण्ड, चतुर्विंश खण्ड, पञ्चविंश खण्ड, एवं षडविंश खण्ड

मनन करने पर ही मनुष्य जानता,
बिना मनन किए कोई नहीं जानता,
मति की ही विशेष जिज्ञासा उचित है,
तो नारदजी बोले, मैं मति-विज्ञान चाहता ।

श्रद्धा करने से ही मनन करता मनुष्य,
बिना श्रद्धा किए कोई मनन नहीं करता,
सो श्रद्धा की ही विशेष जिज्ञासा उचित है,
तो नारदजी बोले, मैं श्रद्धा-विज्ञान चाहता ।

जब निष्ठा होती तभी वह श्रद्धा करता,
बिना निष्ठा के कोई श्रद्धा नहीं करता,
सो निष्ठा की ही विशेष जिज्ञासा उचित है,
नारदजी बोले, मैं उसीकी जिज्ञासा करता ।

सनत्कुमार ने कहा, हे नारद ! जब,
जिज्ञासु इन्द्रियों को विषयों से रोकता,
और एकाग्र करता वो अपने चित्त को,
तब वह एकाग्रचित्त हो निष्ठावाला होता ।

बिना एकाग्रचित्त हुए और संयम रखे,
उसकी निष्ठा पारमार्थिक नहीं हो सकती,
सो एकाग्रता और संयम जानने योग्य हैं,
तो नारदजी बोले, मैं जिज्ञासा करता उनकी ।

जब मनुष्य को सुख प्राप्त होता है,
तभी वो एकाग्रचित्त होता, संयम रखता,
अतः सुख की ही जिज्ञासा करनी चाहिए,
नारदजी बोले, मैं सुख की जिज्ञासा करता ।

सनत्कुमार बोले, जो भूमा[188] है वही सुख है,
क्योंकि निरतिशय सुख परिपूर्णता में होता,
अल्पज्ञता को त्याग, आश्रय लो सर्वज्ञता का,
अल्पज्ञता में तृष्णा होती जिससे दुख होता ।

भूमा की जिज्ञासा पर सनत्कुमार बोले,
अद्वैत, निर्विशेष, आत्मतत्त्व है भूमा,
जहाँ कुछ और नहीं देखता, सुनता, जानता,
हे नारद ! वह ऐसा परमतत्त्व है भूमा ।

जहाँ कुछ और देखता, सुनता, जानता,
वह अल्प है और जो अल्प वो मर्त्य[189] होता,
नारदजी ने पूछा, भूमा किसमें प्रतिष्ठित है,
बोले अपनी महिमा में, और नहीं भी होता ।

दूसरों के आश्रित गौ, घोड़ा, सुवर्ण, घर,
दास, भार्या आदि भी कहे जाते हैं महिमा,
सर्वाधिष्ठान भूमा में भासता सारा ब्रह्माण्ड,
किसी के आश्रित नहीं वो परमार्थ भूमा ।

---

[188] भूमा-अर्थात महान, निरतिशय (निर-अतिशय; जिससे बढ़कर कुछ न हो सके, अद्वितीय, परमात्मा) ।

[189] मर्त्य-अर्थात मनुष्य; शरीर; जो मरणशील है ।

वही ऊपर, नीचे, आगे और पीछे है,
वही उत्तर, दक्षिण, सभी ओर है वही,
पर इससे हे नारद ! यह न समझना,
इस जीव तत्त्व से इतर भूमा है कहीं ।

हे नारद ! मैं ही ऊपर, मैं ही नीचे हूँ,
मैं ही उत्तर, दक्षिण, पूरब, पश्चिम हूँ,
मैं ही मध्य हूँ, मैं ही दाहिने और बाएँ,
जो भी शब्द का विषय है, सब मैं ही हूँ ।

मैं ही ब्रह्म हूँ और मैं ही भूमा हूँ,
यानी जीवात्मा ही है ब्रह्म, वही भूमा,
वही यह जगत है, उससे पृथक कुछ नहीं,
हे नारद ! वही हो तुम, तुम्ही हो भूमा ।

फिर कहा उन्होंने आत्मानुभवशून्य लोग,
बहिर्मुख बुद्धिवाले और अविवेकी होते,
अहंकार का विषय आत्मा नहीं भासता,
बल्कि देह आदि अनात्मा भासता उन्हें ।

यदि तुम्हें भी देहादिक अनात्मा की,
मेरे उपदेश के कारण हुई हो शंका,
तो मेरे उपदेश को फिर से सुनो,
और हे नारद ! दूर करो सब शंका ।

अद्वितीय, चैतन्य, परमानन्दस्वरूप आत्मा,
वही ऊपर, नीचे, उत्तर, दक्षिण सभी दिशा में,
इस प्रकार उसे देखने, समझने, जाननेवाला,
पूर्णतया तृप्त रहता वो अपनी आत्मा में ।

उस ऐसे ज्ञाता विद्वान पुरुष के लिए,
आत्मा ही सर्वस्व, सब आत्मा से हो जाता,
प्राण, आशा, स्मृति, आकाश, तेज, जल,
सबका आविर्भाव, तिरोभाव उससे हो जाता ।

आत्मा से ही अन्न, बल, विज्ञान, ध्यान,
चित्त, संकल्प और मन हो जाता,
आत्मा से ही वाक्, नाम, मन्त्र और कर्म,
आत्मा से यह सब कुछ हो जाता ।

उस ऐसे विद्वान के ही आत्मा से यह सब,
नामरूपात्मक जगत उत्पन्न और लय होता,
क्योंकि जो आत्मपद पाया उस विद्वान ने,
वह सारे जगत का मूलकारण सर्वात्म होता ।

जो विद्वान ऐसे स्थित होता आत्मा में,
मृत्युभय, रोगों और त्रिताप से रहित होता,
इस लोक में अपना जीवन व्यतीत कर,
फिर अन्त में वो ब्रह्म को ही प्राप्त होता ।

सनत्कुमार बोले, सत्-चैतन्य आत्मा,
सृष्टि से प्रथम एक अद्वैत ही था,
फिर वही हो गया तीन भेद वाला,
यानी तेज, जल और पृथ्वी हो गया ।

फिर वही हो गया पाँच प्रकार का, यानी,
आकाश, वायु, तेज, जल, पृथ्वी हो गया,
फिर वही महतत्त्व, अहंकार, आकाश, वायु,
तेज, जल और पृथ्वी, यों सात हो गया ।

फिर वही आकाश, वायु, तेज, जल, पृथ्वी,
ओषधी, अन्न, वीर्य, और पुरुषरूप हो गया,
ऐसे एक से तीन, पाँच, सात और नौ होकर,
वही आत्मा सारे जगत में व्याप्त हो गया ।

मृत्तिका से उत्पन्न घटादि अनेक रूप धर,
जैसे फिर सब एक मृत्तिका रूप हो जाते,
वैसे ही प्रलय में सब अपने में लीन कर,
परमात्मा अद्वैत सत् चैतन्यरूप हो जाते ।

शुद्ध आहार से अन्तःकरण शुद्ध होता,
जिससे स्मृति दृढ़ हो, वासनाएँ मिट जातीं,
इस प्रकार नारदजी को उन्होंने उपदेश देकर,
अज्ञानान्धकार पार करने की राह दिखा दी ।

अथ अष्टमोध्याय:

प्रथम खण्ड

सगुणब्रह्म की उपासना का व्याख्यान यह,
निर्गुणब्रह्म उपासना का यह व्याख्यान नहीं,
अल्पज्ञों के लिए निर्गुणब्रह्म जानना दुर्गम,
सगुण ब्रह्म की उपासना उनके लिए सही ।

ब्रह्मपुर के भीतर सूक्ष्म कमलाकार स्थान,
जो वस्तु है उसके सूक्ष्माकाश के भीतर,
उस वस्तु का अन्वेषण[190] करना चाहिए,
और उसी की जिज्ञासा करना है श्रेष्ठतर ।

यह स्थूल शरीर ब्रह्मपुर कहा जाता,
क्योंकि इसके भीतर है ब्रह्म का निवास,
इसके अंदर एक सूक्ष्म कमलाकार गृह है,
उस गृह के भीतर स्थित है अन्तराकाश ।

कोई सीमा नहीं अन्त:करण के आकाश की,
बाहरी आकाश, सूर्य, चन्द्र सब समाए इसमें,
सब दृश्यमान, अनुभवगम्य और उपस्तिथ,
सभी कुछ स्थित है इसके ही भीतर में ।

यदि संशययुक्त शिष्य आचार्य से पूछे कि,
यदि यह सब कुछ स्थित है इसके भीतर में,
तो जब शरीर वृद्धावस्था पा नष्ट हो जाता,
क्या अवशेष रह जाता, हे भगवन् ! इसमें ?

वो कहे, देह के साथ यह जीर्ण नहीं होता,
उसके वध से भी नाश नहीं होता इसका,
जराहीन, मृत्युहीन, शोकरहित, शाश्वत यह,
सत्यकाम, सत्यसंकल्प, जो चाहता करता ।

अर्जित भोग जैसे यहाँ नष्ट हो जाता,
पुण्योपार्जित लोक भी क्षीण हो जाता,
आत्मा और सत्य कामनाओं का ज्ञाता ही,
समस्त लोकों में यथेच्छ गति को पाता ।

द्वितीय खण्ड

पितृलोगों के देखने की इच्छा करने पर,
पितृलोग उस योगी के सामने आजाते,
और उन पितृलोगों के दर्शन कर,[191]
ऐसे योगीजन महिमान्वित हो जाते ।

ऐसे ही मातृलोग, भ्रातृलोग, भगिनीलोग,
वे भी इच्छा करते ही उन्हें दर्शन देते,
सखा, गन्ध, माला, अन्न, जल, और स्त्रियां,
मनचाहे देश व भोगादि महिमान्वित करते ।

---

[190]परमार्थ सत् अद्वितीय ब्रह्म है, लेकिन वह मन्दबुद्धि पुरुषों को असत् के समान प्रतीत होता है; ये सन्मार्ग में स्थित हों, तब धीरे-धीरे मैं उन्हें परमार्थ सत् को भी ग्रहण करा दूँगी, ऐसा श्रुति मानती है और इसीलिए पिछले अध्याय में भूमा विद्या कह इस अध्याय में चित्तवृत्तिनिरोधार्थ दहराकाश विद्या कही जा रही है ।

[191] अर्थात समाधि अवस्था में दर्शन कर ।

तृतीय खण्ड

इस योगी के हृदय में वे कामनाएँ,
सत्य हैं, पर ढकी हुई होती अविद्या से,
सो पूर्ण न होती वे कामनाएँ कभी-कभी,
मृत परिजनों को मिल न पाता जैसे ।

जीवित या मृत जन, या अप्राप्य वस्तुएँ,
हृदयाकाश में स्थित ब्रह्मलोक में पाता,
वे सत्य कामनाएँ हृदय में स्थित रहतीं,
पर अविद्या के कारण होती अपूर्णता ।

क्षेत्रविद्या से अनजान हल चलाकर भी,
नीचे गड़े हुए स्वर्ण को पाता नहीं जैसे,
सुषुप्ति में ब्रह्मरूपी कोष को पाकर भी,
उसका ज्ञान अविद्यावश होता नहीं वैसे ।

यह आत्मा स्थित है सबके हृदयकमल में,
इसी कारण से उसको हृदय कहा जाता,
इस प्रकार से उसे जानने वाला पुरुष,
सुषुप्ति में प्रतिदिन ब्रह्मलोक को जाता ।

देहात्मबुद्धि को त्यागकर वह योगी,
अपने सत् स्वरूप को प्राप्त कर लेता,
यही अमृत, अभय, ब्रह्म और सत्य है,
पेसा आचार्य शिष्यों के प्रति कहता ।

हे सौम्य | ब्रह्म का दूसरा नाम है सत्य,
तीन अक्षर 'स', 'त' 'य' हैं इस पद में,
'स' का अर्थ अमृत यानी जीवात्मा है,
'त' जुड़ा मरणशीलता यानी प्रकृति से ।

'य' का सम्बन्ध नियम में रखने से है,
'स' और 'त' को जो वश में रखता,
जीवात्मा और प्रकृति दोनों वश में रखे,
उसे सत्य कहते, जो है नाम ब्रह्म का ।

इस सत्य पद का वास्तविक अर्थ,
जानता है जो पुरुष इस प्रकार से,
सुषुप्ति में प्रतिदिन ब्रह्म को पाता,
यही आनन्ददायी स्वर्ग है उसके लिए ।

चतुर्थ खण्ड

सेतु की तरह है पार उतारने को जीवात्मा,
सबका आश्रय, सब पार उतरते इसीसे,
दिन-रात, जरा-मृत्यु, धर्म-अधर्म से अछूता,
अपनी महिमा में स्थित, पूज्य है ये ।

इस सेतु को पा अन्धा, अन्धा नहीं रहता,
दुखी सुखी और रोगी निरोगी हो जाता,
नाश हो जाता अन्तःकरण का अन्धकार,
हृदयस्थ ब्रह्म के प्रकाश से जगमगाता ।

हृदयस्थ ब्रह्मलोक को प्राप्त विद्वान,
इच्छानुसार गमन करता सब लोकों में,
ब्रह्मचर्य[192] द्वारा ही प्राप्य यह ब्रह्मलोक,
और कोई साधन नहीं पाने का इसे ।

पञ्चम खण्ड

ब्रह्मचर्य ही है परमपुरुषार्थ का साधन,
ब्रह्मचर्य से ही ब्रह्मलोक पाता विद्वान,
और जिसे 'इष्ट' कहते वह भी ब्रह्मचर्य है,
उससे ही वो पाता हृदयस्थ ब्रह्म का ज्ञान ।

ब्रह्मचर्यरूप साधन के द्वारा ही पुरुष,
परमात्मा द्वारा सदा अपनी रक्षा[193] कराता,
शास्त्र और आचार्य से आत्मा को जानकर,
आत्मा का मनन कर 'मौन'[194] हो जाता ।

ब्रह्मचर्य से प्राप्त की गई वो जीवात्मा,[195]
नष्ट नहीं होती उस ब्रह्मचर्यवान पुरुष की,
कर्म और ज्ञानकाण्ड[196] ब्रह्मप्राप्ति के हेतु,
यत्नपूर्वक रक्षा करनी चाहिए उसे इनकी ।

मृत्यु लोक से तीसरा स्थान द्युलोक है,
वहाँ स्थित है ऐरंमदीय नाम का सरोवर,
अमृत रस चुआता हुआ एक अश्वत्थ वृक्ष,
अपराजिता नामी ब्रह्म की पुरी[197] वहीं पर ।

ऐसे ब्रह्मचर्य साधन सम्पन्न पुरुषों को ही,
प्राप्त होता है यह अद्वितीय ब्रह्मलोक,
ऐसे ही ब्रह्मचर्य साधन सम्पन्न ब्रह्मवेत्ता,
स्वेच्छा से गमन कर पाते यथेच्छ लोक ।

षष्ठ खण्ड

स्थूल शरीर को जब त्यागता जीवात्मा,
त्यागते समय उसे अति क्लेश होता,
पर कोई मार्ग इस शरीर में ऐसा भी है,
जिससे निकलते हुए इसे सुख होता ।

यह मार्ग ब्रह्मरन्ध्र का मार्ग है जो,
ब्रह्मचर्य साधन सम्पन्न को प्राप्त होता,
हृदय से निकल नाड़ियाँ ब्रह्मरन्ध्र जाती,
जिनके द्वारा जीवात्मा का गमन होता ।

---

[192] ब्रह्मचर्य-अर्थात वासनाओं को त्याग आचार्य द्वारा बताए शास्त्रसम्मत मार्ग का अनुसरण । दूसरे शब्दों में ब्रह्मचर्य का तात्पर्य यहाँ आत्मविद्या से है ।

[193] परमात्मा द्वारा अपनी रक्षा-इसे 'सत्त्रायण' ऐसा कहा जाता है । सत्-अर्थात परमात्मा और त्राण अर्थात रक्षा ।

[194] मौन-अर्थात अपने को परमात्मा से अभिन्न जानकर विचारवान् हो जाना ।

[195] जिसे 'अनाशकायन' (नष्ट न होना) कहा जाता है वह भी ब्रह्मचर्य ही है । जिस आत्मा को ब्रह्मचर्य द्वारा प्राप्त करता है, ब्रह्मचर्यरूप साधनवाले पुरुष का वह आत्मा नष्ट नहीं होता, अत: अनाशकायन भी ब्रह्मचर्य ही है ।

[196] जिसे 'अरण्यायन' (वनवास) ऐसा कहते हैं वह भी ब्रह्मचर्य ही है । ब्रह्मचर्यवान पुरुष 'अर' (कर्मकाण्ड) और 'ण्य' (ज्ञानकाण्ड) नामवाले दो समुद्रों के प्रति गमन करता है ।

[197] ऐरंमदीय नाम का सरोवर अर्थात हर्षोत्पादक सरोवर; अमृत रस चुआता हुआ एक अश्वत्थ वृक्ष-जिसका नाम सोमसवन अर्थात अमृतस्त्रावी वृक्ष; ब्रह्म की पुरी अर्थात इस ब्रह्मचर्य साधना का फल अमित आनन्दमयी, चिरस्थायी अवस्था का प्राप्त होना है, जिसे केवल ब्रह्मचर्य द्वारा ही पाया जा सकता है ।

आदित्यमण्डल से निसृत किरणों के समान,
सब ओर को निकल रही नाड़ियाँ हृदय से,
पिंगलवर्णवाले सूर्य के रस से पूर्ण वे नाड़ियाँ,
पूर्ण वैसे ही श्वेतादि सूर्य के सूक्ष्म रस से ।

यह आदित्य वर्णत: पिंगल[198] वर्ण का है,
यही शुक्ल, नील, पीला और लोहितवर्ण भी,
नाड़ियों में अनुस्यूत हुए उस तेज के कारण,
इन वर्णों से तदाकार हो रहती नाड़ियाँ भी ।

जैसे कोई विस्तीर्ण महापथ जाता है,
समीपस्थ और दूरस्थ दोनों गावों को,
उसी प्रकार ये सूर्य की किरणें भी जाती,
आदित्य लोक और पुरुष के शरीर को ।

वे निरन्तर इस आदित्य से ही निकलीं,
और व्याप्त हैं इन नाड़ियों में,
और जो इन नाड़ियों से निकलती हैं,
व्याप्त हैं वे इस आदित्य में ।

जब गहरी सुषुप्ति में आनन्दमग्न हो,
यह पुरुष स्वप्न नहीं देख रहा होता,
चला जाता तब यह इन नाड़ियों में,
पाप से अछूता और तेजोमय यह होता ।

रोगादि से मरणासन्न व्यक्ति से जब,
उसके परिजन पूछते, क्या हमें जानता,
उत्क्रमण नहीं करता जब तक शरीर से,
तब तक कहता, हाँ मैं तुम्हें जानता ।

जब शरीर से उत्क्रमण करता है तब,
इन किरणों से ही ऊपर की ओर चढ़ता,
उस समय वो 'ॐ' ऐसा कहकर,
ऊर्ध्वलोक को अथवा अधोलोक को जाता ।

वह जितनी देर में मन जाता है,
उतने में आदित्य लोक पहुँच जाता,
विद्वानों के लिए ब्रह्मलोक प्राप्ति द्वार,
और निरोधस्थान है वह अविद्वानों का ।

हृदय की एक-सौ-एक नाड़ियों में से,
कपाल की ओर निकली है एक नाड़ी,
ऊपर के लोकों में जाने का मार्ग है यह,
नाना योनियों में ले जातीं शेष नाड़ी ।

सप्तम खण्ड

अजर, अमर, सत्यकाम, सत्यसंकल्प आदि,
खोजना और जानना चाहिए उस आत्मा को,
शास्त्र और गुरु उपदेशानुसार जो जान लेता,
पा लेता सम्पूर्ण लोक और कामनाओं को ।

प्रजापति द्वारा कहे हुए इस वाक्य को,
देवता और असुर जान गए परम्परा से,
इन्द्र और विरोचन हाथ में समिधा लिए,
गए प्रजापति के पास आत्मा को जानने ।

[198] पिंगल-अर्थात भूरापण लिए पीला वर्ण ।

बत्तीस वर्ष ब्रह्मचर्यवास करने के बाद,
प्रजापति ने उनका उद्देश्य पूछा उनसे,
वे बोले आपने जो आत्मा के लिए कहा,
हम वह ज्ञान प्राप्त करना चाहते आपसे ।

वे बोले, नेत्रों में दिखाई देता ये पुरुष,
आत्मा, अमृत, अभय और ब्रह्म है यही,
जल, दर्पणादि में कौन दिखता, पूछने पर,
वे बोले, सब ओर, सबमें दिखता है यही ।

अष्टम खण्ड

फिर प्रजापति ने कहा उन सबसे,
जलपूर्ण शकोरे में अपने को देखकर,
आत्मा के विषय में जो न जान सको,
मुझे बतलाओ और जान लो, पूछकर ।

उस जलपूर्ण शिकोरे में देखा उन दोनों ने,
और प्रजापति के पूछने पर कहा उनसे,
नख से सिख तक अपने सम्पूर्ण शरीर के,
प्रतिबिम्बरुप अपनी आत्मा को हम देखते ।

तब प्रजापति ने कहा तुम अलंकृत हो,
जल के शिकोरे में दोनों देखो फिर से,
प्रजापति के पूछने पर बतलाया उन्होंने,
जल में यह भी अलंकृत दिख रहा हमें ।

उनका यह उत्तर सुन प्रजापति ने कहा,
उचित ही कह रहे हो तुम दोनों,
यही आत्मा, अमृत, अभय और ब्रह्म है,
तो शान्तचित्त हो चले गए दोनों ।

जब उन दोनों को जाते हुए देखा,
तो धीरे से कहने लगे प्रजापति स्वयं से,
आत्मा को जाने और पाये बिना ही,
भावित हो रहे हैं ये विपरीत ज्ञान से ।

प्रजापति के ये वचन बिना सुने ही,
विरोचन ने साथियों को जा बतलाया,
यह शरीर ही जानने और पूजने योग्य है,
यही आत्मा, इसको पाने से सब पाया ।

हे सौम्य ! इसी कारण से आजकल भी,
दानहीन, श्रद्धाहीन, यज्ञहीन लोगों के लिए,
असुर शब्द का प्रयोग करते हैं लोग,
उनकी यही आसुरी वृत्ति दर्शाने के लिए ।

धर्म विरुद्ध ज्ञान होता है असुरों का,
मृत देह का वे साज-श्रृंगार आदि करते,
ऐसा करने से सुख और स्वर्ग पाता मृतक,
वे असुर वृत्ति वाले ऐसा ही मानते ।

नवम खण्ड

लेकिन इन्द्र यह सोच भयग्रस्त हो गया,
यदि शरीर के ही अनुरूप होता यह आत्मा,
तो जैसे अलंकृत होने से वो अलंकृत हुआ,
तो क्या अन्धा होने से वो होगा न अन्धा ?

क्या शरीर के स्राम[199] या खण्डित होने से,
क्या स्राम या खण्डित होगा न आत्मा,
और इस शरीर के नाश हो जाने पर,
क्या शरीर संग ही नष्ट होगा न आत्मा ?

ऐसा सोच, प्रजापति के पास लौटा इन्द्र,
और प्रजापति के पूछने पर कहा उसने,[200]
यह छायात्मा तो शरीर की अनुगामी है,
इस उपदेश का कोई फल नहीं देखता मैं ।

प्रजापति बोले, 'ऐसा ही है यह आत्मा,'
तुम अभी और बत्तीस वर्ष यहीं निवास करो,
बत्तीस वर्ष वहाँ निवास करने के उपरान्त,
प्रजापति तब यह कहने लगे इन्द्र को ।

दशम खण्ड

स्वप्न में अनेक भोगों को भोगता,
जो यह विचरता है, वही है आत्मा,
यह अमृत, अभय और यही ब्रह्म है,
इन्द्र यह सुन शान्तचित्त हो चला ।

लेकिन देवताओं के पास पहुँचे बिना,
फिर विचार उठने लगे उसके मन में,
शरीर के अन्धे या स्राम होने पर भी,
ये दोष लक्षित होते नहीं हैं इसमें ।

देह के वध से हत होता नहीं स्वप्नात्मा,
शरीर के विकार प्रभावित करते नहीं इसे,
लेकिन स्वप्न में कोई इसे मारता दिखता,
काटता हुआ और दुःख देता दिखता इसे ।

सो अपना प्रयोजन निष्फल होता देख,
इन्द्र फिर लौट आया प्रजापति के पास,
वे बोले मैं इसकी पुनः व्याख्या करूँगा,
बत्तीस वर्ष और करो तुम यहाँ निवास ।

एकादश खण्ड

वे बोले, सुषुप्ति में आनन्द अनुभव करता,
स्वप्न देखता नहीं, यह वही निष्पाप आत्मा,
यही अमर है, अभय और व्यापक ब्रह्म है,
यह जान फिर से शान्तचित्त हो इन्द्र चला ।

लेकिन फिर विचार उठा इन्द्र के मन में,
तब तो यह अज्ञ, सबसे अनजान होता,
मानों यह विनाश को ही प्राप्त हो गया हो,
इसमें मुझे इष्टफल दिखायी नहीं देता ।

फिर इन्द्र को लौटा देख प्रजापति ने,
कहा, और पाँच वर्ष तप करते रहो यहाँ,
फिर मैं इसकी पुनः व्याख्या करूँगा,
इस तरह एक-सौ-एक वर्ष इन्द्र रहे वहाँ ।

---

[199] स्राम-इसका मुख्य अर्थ काना है और वह भी जिसकी आँख और नाक से स्त्राव होता रहे ।

[200] प्रजापति ने इन्द्र और विरोचन दोनों से एक ही शब्द 'अक्षिपुरुष' (नेत्रों में दिखायी देनेवाला पुरुष) कहा था । विरोचन ने उससे देह का अर्थ ग्रहण किया जबकि इन्द्र ने उसका अर्थ छाया ग्रहण किया । इसके अलावा इन्द्र प्रजापति द्वारा कहे गए शब्दों का मनन करते रहे और आत्मतत्व को सही से जानने के लिए पुनः प्रजापति के पास लौटकर आए ।

द्वादश खण्ड

प्रजापति बोले, यह शरीर मरणधर्मा है,
आश्रय है इस अमृत, अशरीरी आत्मा का,
जीवात्मा ग्रस्त होती प्रिय और अप्रिय से,
अशरीर होने से आत्मा अप्रभावित रहता ।

ब्रह्म को जब स्फुरणा[201] होती सृष्टि की,
माया[202] का सहारा ले वो सृष्टि रचता,
जब ब्रह्म का मेल होता माया के साथ,
तब वह ब्रह्म की संज्ञा ईश्वर कहाता ।

यही ईश्वर सृष्टि का कर्ता कहा जाता,
शुद्ध ब्रह्म सृष्टि का कर्ता नहीं होता,
सत्, रज, तम तीन गुण होते माया में,
इसीसे माया को त्रिगुणात्मक कहा जाता ।

इसीसे महतत्व, अहंकार, पञ्चतन्मात्राएँ,[203]
पञ्चमहाभूत,[204] दस इन्द्रियाँ[205] व मन होते,
प्रकृति सहित इन चौबीस तत्वों का समुदाय,
इन्हें अविद्या यानी मलिन माया कहते ।

अविद्याविशिष्टचैतन्य समष्टि जीव कहाता,
दस इन्द्रियाँ और मन विशिष्टचैतन्य जीव,
कार्य में कारण के गुण अनुगत होने से,
ब्रह्म सा ही सत्-चित-आनन्दमय है जीव ।

प्रकृति या माया के सभी कार्य में,
एकरस, एक समान स्थित है ब्रह्म,
माया[206] का अपना कोई अस्तित्व नहीं,
भ्रम के दूर होते ही रह जाता ब्रह्म ।

तमोगुण से बनता है स्थूल शरीर,
और रजोगुण से सूक्ष्म शरीर बनता,
ब्रह्म और उसके प्रतिबिम्ब का मेल,
सूक्ष्म शरीर से होने पर जीव कहाता ।

यही जीव होता सुख-दुःख का भोक्ता,
वही कर्मानुसार लोक-लोकान्तर में जाता,
उसी के अन्तःकरण में कर्मसंस्कार रहते,
जो उसके जन्मादि का कारण होता ।

स्थूल और सूक्ष्मशरीर का मेल जन्म,
और उनका वियोग मृत्यु कहा जाता,
स्थूल शरीर बार-बार जन्मता-मरता,
सूक्ष्म शरीर पर अपेक्षाकृत अमर होता ।

---

201 जीवों के अदृष्टकर्मफल देने की स्फुरणा ।

202 ब्रह्म की शुद्ध विमल इच्छा शक्ति ।

203 पञ्चतन्मात्राएँ-शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध ।

204 पञ्चमहाभूत-आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथ्वी ।

205 दस इन्द्रियाँ-पाँच कर्मेन्द्रियाँ (हस्त, पाद, लिंग, गुदा और वाणी) और पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ (नेत्र, श्रोत्र, नासिका, जिह्वा और त्वचा) ।

206 माया-माया दो शब्दों-'मा' अर्थात जो नहीं है और 'या' अर्थात जो नहीं है लेकिन प्रतीत होती है जैसे रस्सी में सर्प की प्रतीति । माया असत्य है लेकिन जीवों के भ्रान्ति के कारण अधिष्ठान चैतन्य ब्रह्म में प्रतीत होती है । भ्रान्ति के दूर होने पर माया का कहीं पता नहीं लगता है, ओर न उसके कार्य का कहीं पता लगता है जब माया का लोप हो जाता है, तब केवल अधिष्ठान चैतन्य रह जाता है । जो सूक्ष्म अन्तरदृष्टि से सबमें कारणब्रह्म को देखता है वह शरीर रहते हुए भी मुक्त है, क्योंकि वह अपने को माया और माया के कार्य से पृथक देखता है ।

सूक्ष्मशरीरस्थ अविनाशी चैतन्य जीवात्मा,
जब वास्तविक ब्रह्मज्ञान प्राप्त कर लेता,
तब यह जीवात्मा ब्रह्म में लीन हो जाता,
उसका कार्य सूक्ष्म शरीर भी नष्ट हो जाता ।

हे इन्द्र ! तुम्हें समझाने के लिए ही मैंने,
आत्मा को नेत्र, जल आदि में बताया,
लेकिन वह जलस्थ छायात्मा आत्मा नहीं,
इस नाशवान शरीर की है बस मात्र छाया ।

तप से शुद्ध अन्तःकरण द्वारा विचार कर,
तूने छायात्मा को आत्मा से विपरीत पाया,
तो उत्तरोत्तर तू और अधिक ज्ञान प्राप्त कर,
अमर, अभय, ब्रह्मरूप आत्मा जानने आया ।

अजर, अमर, ज्ञानस्वररूप, अविनाशी आत्मा,
वही तेरा रूप है, तू पृथक नहीं उससे,
जाग्रत और स्वप्न के दृश्य मन का कार्य हैं,
उनका लय हो जाता मन लय होने से ।

जब तू सुषुप्ति अवस्था को प्रात होता है,
मन लय होने के साथ सृष्टि लय हो जाती,
भय, सुख-दुःख आदि भी सब लय हो जाते,
अपने सत्-आनन्दरूप की प्राप्ति हो जाती ।

हे इन्द्र ! जो वस्तु वहाँ होती है,
तू उस वस्तु का ज्ञाता भी होता,
अज्ञान और आनन्द दोनों होते वहाँ,
मन लीन होने से बता नहीं सकता ।

जब तू जाग्रत अवस्था को प्राप्त होता है,
तेरे करण मन, बुद्धि आदि साथ हो जाते,
उनके द्वारा प्रकट करता वो अनुभव,
क्या आनन्द से सोया था तब, यह कहते ।

यह ज्ञान जो तुझे जाग्रत में होता है,
उस ज्ञान को स्मृतिज्ञान कहा जाता,
बगैर साक्षात्कार के ज्ञान नहीं होता,
जो सिद्ध करता अनुभव की सत्यता ।

हे इन्द्र ! तेरा मन लय हो जाएगा जब,
तू अपना वास्तविक स्वरूप जान जाएगा,
स्वयं को सूक्ष्म शरीर से अलग जान,
तू मुक्त है, अभी और यहीं जान जाएगा ।

हे इन्द्र ! ऐसे तो तेरा चैतन्य आत्मा,
पृथक नहीं हैं ईश्वर चैतन्य आत्मा से,
भेद बस इतना कि माया ईश्वराधीन है,
और तू नाचता, माया तुझे नचाती जैसे ।

जब तू स्वयं को चैतन्य, ब्रह्म समझेगा,
ईश्वरवत् अपने को सच्चिदानन्दरूप पाएगा,
सुषुप्ति आत्मा से पृथक दूसरी आत्मा नहीं,
वही ईश्वर, वही ब्रह्म, सोई तू है, जानेगा ।

वायु, बादल, विद्युत् और मेघध्वनि,
ये सब अशरीर,[207] शरीर नहीं हैं इनके,
आकाश से निकल, आकाश को पाकर,
लीन हो जाते हैं ये अपने कारण में ।

---

[207] अशरीर-यानी शरीररहित जो कहा है वह उपाधि दृष्टि से अलग करके कहा है जैसे वायु शरीररहित है पर जब वृक्षादिकों का सम्बन्ध होता है तब वृक्ष कम्पायमान होता है उस समय उसकी यानी वायु की गति नयनगोचर होती है । ऐसे ही यह बादल आदि के विषय में भी है ।

वैसे ही, हे सौम्य ! यह मुक्त जीवात्मा,
शरीर से निकल, सर्वोत्कृष्ट ज्योति को पाता,
सोई यह अन्तःकरणविशिष्ट उत्तमपुरुष यहीं,
मुक्तावस्था में सब करता आनन्द मनाता ।

निज स्वरूप को पाया वह उत्तम पुरुष,
अपने स्थूल शरीर को स्मरण नहीं करता,
जैसे घोड़ा या बैल जुता होता रथ में,
कर्मफलभोगार्थ प्राण शरीर में जुता रहता ।

यह जो दिखाई देता है चक्षु से आकाशादि,
इसे आत्मा देखता, चक्षु करण हैं उसके,
ऐसे ही आत्मा सूँघता, सुनता और बोलता,
नासिका, वाग और श्रोत्रेन्द्रिय करण उसके ।

जो यह कहता कि मैं इसका मनन करूँ,
वह आत्मा है, मन दिव्य नेत्र[208] है उसका,
वह यह आत्मा उस दिव्य चक्षु के द्वारा,
भोगों को देखता हुआ रमण करता ।

ऐसे जो यह इन्द्रियों में बैठा हुआ,
इन्द्रियों के सब व्यवहारों को जानता,
जिसकी शक्ति से इन्द्रियाँ काम करतीं,
वही है वह सबका ज्ञाता, जीवात्मा ।

देवता पूजते ऐसे कहे इस आत्मा को,
सब लोक और सब कामनाएँ मिलती उन्हें,
सब पा लेता, इसे जान साक्षात् करनेवाला,
ऐसा कहा प्रजापति ने, प्रजापति ने ।

त्रयोदश खण्ड

दुखमय और जड़मय योनि से जीव,
दुःख-सुख मिश्रित मनुष्यादि योनि पाता,
और फिर इस योनि से कर्मानुसार वो,
फिर दुखमय और जड़मय योनि को पाता ।

घोड़ा लोट-पोट हो झाड़ता जैसे रोमों को,
चन्द्रमा राहु के मुख से छूट निर्मल होता,
वैसे ही ब्रह्मविद्या जान वासनाओं से छूट,
देह त्याग अविनाशी ब्रह्म को वो पा लेता ।

चतुर्दश खण्ड

जगत के नामरूप का प्रकाशक है ब्रह्म,[209]
आधेयरूप से जगत स्थित उसी ब्रह्म में,
वही ब्रह्म हृदय के भीतर स्थित है,
यही अमृत है, यही अभय, आत्मा है ये ।

---

[208] इस मन्त्र में मन इन्द्रिय को देव चक्षु कहा है इसका कारण यह है कि सब इन्द्रियों का राजा मन है और वे सब इन्द्रियाँ इसके अधीन है जिधर मन जाता है उसी तरफ़ सब इन्द्रियाँ दौड़ती हैं । भूत, भविष्य, वर्तमान तीनों कालों के विषय को मन ही मनन कर सकता है इसी के द्वारा मुक्तात्मा जीव सब कामनाओं का भोक्ता है ।

[209] आकाश नाम से प्रसिद्ध आत्मा नाम और रूप का निर्वाह करने वाला है । 'आकाश' इस नाम से श्रुतियों में आत्मा प्रसिद्द है । यही आत्मा ही ब्रह्म है ।

परमात्मा की शरण को प्राप्त होऊँ मैं,
ब्राह्मण आदि सबके बीच में यश[210] पाऊँ,
यश, वीर्य, बल और धर्म नाश करनेवाली,
पक्के बदरी फलवत् जन्मयोनि न पाऊँ ।

पञ्चदश खण्ड

हे सौम्य ! यह वही ज्ञान है, जिसको,
ब्रह्मा[211] ने कहा था कश्यप प्रजापति से,
कश्यप प्रजापति ने इसे पुत्र मनु को दिया,
फिर प्रजाओं को यह ज्ञान मिला मनु से ।

आचार्य की भली प्रकार से सेवा कर,
वेदज्ञान पा, आचार्यकुल से समावर्तन कर,
कुटुम्ब में स्थित हो, स्वाध्याय करता हुआ,
पुत्रों और शिष्यों को धर्म में प्रवर्त कर ।

अन्तःकरण में इन्द्रियों को स्थापित कर,
इन्द्रियसंयम के द्वारा कर्मसन्यास करता,
जीवनपर्यन्त इस प्रकार शास्त्राज्ञा पालन कर,
ब्रह्मलोक पा वो नहीं लौटता, नहीं लौटता ।

..... 'ॐ शान्ति, शान्ति, शान्ति'.....

---

[210] यश-अर्थात यशसंज्ञक आत्मा ।

[211] ब्रह्मा-अर्थात आदि ब्रह्मा, हिरण्यगर्भ अथवा परमेश्वर ।